अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई २०२२

योग – एक सचेतन क्रमविकास

अग्निशिखा मई २०२२ वर्ष ५२, अंक १०, पूर्णांक ६२१

विषय-सूची

योग – एक सचेतन क्रमविकास

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
योग क्या है	५
हठयोग	८
राजयोग	१०
ज्ञानयोग	१५
भक्तियोग	२३
कर्मयोग	२७
तन्त्र-योग	३२

पुरोधा

दैनन्दिनी		३६
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : प्राणिक लोक के बारे में	नवजातजी	३९
आदर्श (कविता)	श्री सोहनलाल द्विवेदी	४१
आत्मा की उपस्थिति	अज्ञात	४२
देखना, तारा कहीं उड़ न जाये...	वन्दना	४३

साधारण प्रकृति की आदत यदि अवतरण में बाधक न हो तो फिर साधना की आवश्यकता ही क्या? समस्त उच्चतर चेतना को नीचे आकर तुम्हें एक ही क्षण में अतिमानव के रूप में बदलने से कौन-सी वस्तु रोकती है? क्योंकि निम्नतर प्रकृति की चीज़ें हठीला प्रतिरोध करती हैं इसलिए साधना आवश्यक होती है।

—श्रीमाँ

सन्देश

... सिद्ध योगी से भी तुम सदैव चरम पूर्णता की आशा नहीं कर सकते : ऐसे बहुत से योगी हैं जो बाह्य प्रकृति की पूर्णता के लिए परवाह तक नहीं करते और यह नहीं माना जा सकता कि यह वस्तु उनकी सिद्धि और अनुभव को अप्रमाणित करती है। यदि तुम इसे इसी रूप में मानो तो तुम भूतकाल के अधिकतर योगियों को और प्राचीन काल के ऋषियों को भी इस वर्ग से बहिष्कृत कर दोगे। मैं मानता हूँ कि मेरे योग का आदर्श भिन्न है, पर मैं इसके द्वारा अन्य आध्यात्मिक मनुष्यों, उनकी सिद्धियों तथा उनकी साधना को बाँध नहीं सकता। मेरा अपना आदर्श है बाह्य प्रकृति का रूपान्तर, यथासम्भव अधिक-से-अधिक पूर्णता। पर तुम यह नहीं कह सकते कि जिन लोगों ने इसे प्राप्त नहीं किया या प्राप्त करने की परवाह नहीं की उनमें आध्यात्मिकता नहीं है। सुन्दर व्यवहार—न कि शिष्टता जो महत्त्वपूर्ण होने पर भी बाह्य वस्तु है—परन्तु एक ऐसा सौन्दर्य जो एकता और सामञ्जस्य की आध्यात्मिक सिद्धि पर आधारित है और जीवन में ओतप्रोत हो गया है, अवश्य ही पूर्ण सामञ्जस्य का एक अंग है। **श्रीअरविन्द**

सम्पादकीय : आज घर-घर में योग शब्द का बोलबाला है। यह भारतीय प्रायद्वीप—जहाँ इसका जन्म और विकास हुआ—की सीमाओं से निकल कर दूर-दराज़ तक फैल चुका है। मानवता के लिए इसकी उपयोगिता भी निस्सन्देह प्रतिष्ठित हो चुकी है। फिर भी, अब तक इसके गभीरतर अर्थ को समझने में कि 'सचमुच योग है क्या', कुछ कमी रह गयी है।

हमारा यह अंक श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के प्रोत्साहक तथा प्रदीप्त वचनों द्वारा इस विषय को समझने के प्रयास को समर्पित है।

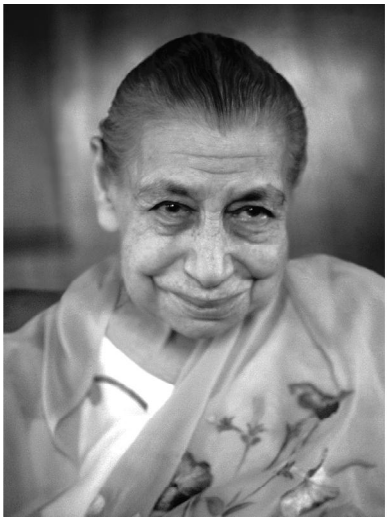
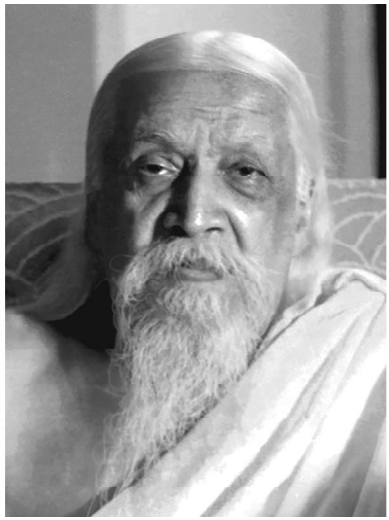

अतिमानसिक योग का पहला शब्द है समर्पण; इसका अन्तिम शब्द भी समर्पण ही है। इस योग का आरम्भ होता है—स्वयं को शाश्वत प्रभु के हाथों में सौंप देने, भागवत चेतना के प्रति उठाये जाने के संकल्प से, पूर्णता तथा रूपान्तरण की प्यास से; अपने-आपको निःशेष भाव से दे देने में इसकी समाप्ति होती है; क्योंकि केवल तभी जब आत्म-समर्पण पूर्ण होता है कि योग की निष्पत्ति होती है, तभी अतिमानसिक प्रभु सब कुछ अपने हाथों में ले लेते हैं और सत्ता पूर्णता प्राप्त करती है, प्रकृति रूपान्तरित हो जाती है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३६७ **श्रीअरविन्द**

योग क्या है

जीवन तथा योग

जीवन और योग दोनों की सही दृष्टि में समस्त जीवन ही सचेतन या अवचेतन रूप से एक योग है। इस वाक्य से हमारा तात्पर्य है सत्ता में अप्रकट या प्रच्छन्न गुप्त सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-परिपूर्णता के लिए एक व्यवस्थित प्रयास तथा—उस प्रयास में विजय की उच्चतम स्थिति—मानव व्यष्टि का वैश्व व परात्पर सत् के साथ ऐक्य, जिसे हम मनुष्य और विश्व-व्यवस्था में आंशिक रूप से अभिव्यक्त देखते हैं। किन्तु सारा जीवन, जब हम इसके बाहरी रूपों के पीछे दृष्टि डालते हैं, प्रकृति का एक विराट् योग दिखायी पड़ता है जो अब तक की अपनी अनुपलब्ध सम्भावनाओं की सर्वदा-संवर्धनशील अभिव्यक्ति में सचेतन और अवचेतन में अपनी पूर्णता सिद्ध करने तथा स्वयं को अपनी भागवत वास्तविकता के साथ संयुक्त करने के लिए प्रयास करता है। अपने चिन्तनशील प्राणी, मनुष्य में उसने पहली बार इस पृथ्वी पर क्रियाशीलता के आत्म-चेतन साधनों तथा संकल्पित प्रबन्धों का आविष्कार किया है जिनके द्वारा यह बृहत् प्रयोजन अधिक द्रुत गति और शक्ति के साथ सम्पन्न किया जा सकता है। योग, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, व्यक्ति के विकास को शारीरिक अस्तित्व के एक ही जीवन-काल में या कुछ वर्षों या कुछ महीनों में भी सिकोड़ कर संक्षिप्त करने का साधन माना जा सकता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ६

योग का उद्देश्य

पूर्णयोग का उद्देश्य है, आत्म-परिपूर्णता, आत्म-विलयन नहीं।

योगी के अनुसरण के लिए दो पथ दर्शाये गये हैं—विश्व से विरक्ति और विश्व में पूर्णता; पहला, संयम द्वारा प्राप्त होता है, दूसरा, तपस्या से प्रभावित होता है; जब हम ईश्वर को अस्तित्व के अन्दर खो देते हैं, हमें पहला प्राप्त होता है, जब हम ईश्वर में अस्तित्व को परिपूर्ण करते हैं, हमें दूसरा उपलब्ध होता है। वर दे कि हमारा पथ पूर्णता का पथ हो, परित्याग का नहीं; हमारा लक्ष्य युद्ध में विजय हो, सभी संघर्षों से पलायन नहीं।

बुद्ध तथा शंकर ने संसार को पूरी तरह से मिथ्या और परम दुःखदायी समझा; इसलिए जगत् से भाग निकलना ही उनके लिए एकमात्र बुद्धिमानी थी, एकमात्र हल था। लेकिन यह जगत् ब्रह्म है, जगत् भगवान् है, जगत् सत्य है, जगत् आनन्द है; यह तो हमारा ही मानसिक अहंकार है जिसके द्वारा हम जगत् को ग़लत समझते हैं और जगत् में भगवान् के साथ सही सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते। यही तो है सारे दुःख-दर्द की जड़। हमारे सन्ताप और दुःख-दर्द का इसके अलावा वस्तुतः और कोई कारण नहीं है।

भागवत पूर्णता तक आरोहण

योग के द्वारा हम मिथ्यात्व में से सत्य में, दुर्बलता से बल में, दुःख-दर्द से आनन्द में, दासता में से स्वाधीनता में, मृत्यु से अमरता में, अँधरे से प्रकाश में, अस्तव्यस्तता से शुद्धि में, अपूर्णता से पूर्णता में, आत्म-विभाजन से ऐक्य में और माया से भगवान् में उठ सकते हैं। योग के अन्य सभी उपयोग विशेष और आंशिक लाभ हैं जो हमेशा अनुसरणीय नहीं होते। जो भगवान् की पूर्णता को पाने का लक्ष्य अपनाता है वही पूर्णयोग है। भागवत पूर्णता का साधक ही पूर्णयोगी है। हमारा लक्ष्य होना चाहिये उस तरह पूर्ण होना जैसे भगवान् अपनी सत्ता और आनन्द में पूर्ण हैं। वैसा शुद्ध जैसे वे शुद्ध हैं, वैसा आनन्दमय जैसे वे आनन्दमय हैं और जब हम स्वयं पूर्णयोग में सिद्ध हो जायें तो समस्त मानवजाति को उसी भागवत पूर्णता में लाना। अगर हम अपने लक्ष्य के लिए अपर्याप्त हैं तो इसका कोई महत्त्व नहीं, जब तक कि हम अपने-आपको पूरी तरह इस प्रयास में लगाते हैं और उसमें सतत निवास करते हैं और भले मार्ग पर दो इंच ही आगे बढ़ें, फिर भी मानवजाति को, जो अभी संघर्ष और धुँधलके में रहती है, उसमें से उस प्रकाशमय आनन्द में आने में सहायता मिलेगी जिसमें भगवान् हमें ले जाना चाहते हैं। हमारी तात्कालिक सफलता चाहे जैसी हो, हमारा अडिग लक्ष्य होना चाहिये, किसी रास्ते की सराय में या अपूर्ण चट्टी में लेट जाना नहीं बल्कि पूरी यात्रा को तय करना।...

संक्षेप में, हमें द्वित्तों के स्थान पर ऐक्य, अहंकार के स्थान पर भागवत चेतना, अज्ञान की जगह भागवत प्रज्ञा, विचार की जगह भागवत ज्ञान, दुर्बलता, संघर्ष और प्रयास की जगह आत्म-तुष्ट भागवत शक्ति, पीड़ा और

मिथ्या सुख की जगह भागवत आनन्द को लाना होगा।
CWSA खण्ड १२, पृ. ९६, ९८, १०१

चेतना का परिवर्तन

योग वह साधन है जिसमें व्यक्ति उस आन्तरिक अनुशासन के द्वारा चीज़ों के 'सत्य' के साथ एकात्म हो सकता है जो हमें बाहरी तथा आभासी चेतना से हटा कर आन्तरिक तथा सच्ची चेतना तक ले जाता है। योग की चेतना बाहरी जगत् की चेतना का बहिष्कार नहीं करती, लेकिन वह उसे बाहरी दृष्टि तथा अनुभूति के द्वारा नहीं बल्कि आन्तरिक चक्षुओं से देखती है, वह एक आन्तरिक गभीरतर महानतर तथा सत्यतर चेतना के प्रकाश में बाह्य चेतना के सभी गुणों और मूल्यों को परिवर्तित कर उन्हें उनके सच्चे स्थान पर बिठाती है तथा सत्य के परम विधान को लागू करती, प्राणी के अज्ञान के विधान को भागवत 'संकल्प' तथा 'ज्ञान' के नियम में परिवर्तित कर देती है।

चेतना का परिवर्तन ही योग की प्रक्रिया का सम्पूर्ण अर्थ है।...

योग है वह विज्ञान, वह प्रक्रिया, वह प्रयास तथा वह क्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी साधारण मानव-चेतना की सीमाओं से निकल कर महानतर आध्यात्मिक चेतना में पहुँचने का प्रयास करता है।
CWSA खण्ड १२, पृ. ३२७

आंशिक तथा पूर्णयोग

योग का अर्थ संयुक्त होना है तथा योग का सम्पूर्ण लक्ष्य मानव आत्मा की सर्वोच्च सत्ता तथा मानवता की वर्तमान प्रकृति की सनातन, सर्वोच्च अथवा दिव्य प्रकृति के साथ ऐक्य या मिलन है। जितना महान् ऐक्य होगा, उतना महान् योग होगा, जितना पूर्ण ऐक्य होगा उतना ही पूर्ण योग होगा।...

पूर्णयोग वह होगा जो प्रभु को विश्व के अन्दर स्वीकार करे, समस्त सत्ताओं के साथ एकत्व तथा मानवजाति के साथ भाईचारे का अनुभव करे, जो जीवन और अस्तित्व को भागवत चेतना से भर दे और न केवल व्यक्तिगत मनुष्य को उठाये बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति को सम्पूर्ण पूर्णता की ओर ले जाये।
CWSA खण्ड १२, पृ. ३३४-३५ **श्रीअरविन्द**

हठयोग

हठयोग के पीछे का सिद्धान्त

प्राण और शरीर पर विजय पाना हठयोग का लक्ष्य है : प्राण तथा शरीर का संयोजन ही अन्नकोष और प्राणकोष के रूप में स्थूल शरीर का निर्माण करता है और इन दोनों का सन्तुलन ही मनुष्य की सत्ता में प्रकृति के सभी कार्यों का आधार है। प्रकृति के द्वारा स्थापित सन्तुलन अहंकार से भरे सामान्य जीवन के लिए तो पर्याप्त है, लेकिन वह हठयोगी के उद्देश्य को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि सामान्य मनुष्य के जीवनकाल में उसे अपने शरीररूपी भौतिक इंजन को चलाने के लिए जितनी ऊर्जा और शक्ति की सामान्यतः ज़रूरत पड़ती है वह कम या अधिक उसे अपने प्राण तथा शरीर से मिल ही जाती है, लेकिन हठयोगी के लिए वह काफ़ी नहीं होती, वह अपनी प्रकृति में सुधार लाना चाहता है और एक ऐसा अन्य सन्तुलन स्थापित करना चाहता है जिसके द्वारा यह ढाँचा प्राण की बढ़ती हुई प्राणिक या सक्रिय शक्ति के वेगवान प्रवाह का सामना करने में समर्थ हो सके; यह शक्ति अपनी मात्रा तथा तीव्रता में वस्तुतः अनिश्चित तथा प्रायः असीम है। प्रकृति में यह सन्तुलन प्राण की एक सीमित मात्रा और शक्ति पर आधारित होता है। उससे अधिक शक्ति को व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और आनुवंशिक अभ्यास के कारण न तो सह सकता है और न ही उसका उपयोग कर सकता या उसे नियन्त्रित ही कर सकता है। हठयोग में यह सन्तुलन व्यक्तिगत प्राण-शक्ति को व्यापक बनाने के लिए एक बहुत ही कम रूढ़िगत और बहुत ही कम सीमित क्रिया को प्रवेश करने देता है और उसे व्यक्ति अपने अन्दर धारण करके प्रयोग में लाता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३३-३४

प्राणायाम के पीछे का सिद्धान्त

प्राणायाम प्राणिक शक्ति पर अधिकार करना है, उस चल ऊर्जा पर जो विश्व को निरन्तर चलाये रखती है। मानव-शरीर में प्राण या प्राणिक शक्ति की सबसे अधिक सुस्पष्ट क्रिया होती है, साँस लेने की क्रिया, जो सामान्य मनुष्य के जीवन और क्रिया-कलाप तथा गति के लिए अत्यावश्यक है।

हठयोग द्वारा व्यक्ति इस पर विजय पा लेता और स्वयं को इससे स्वतन्त्र कर लेता है, यानी, श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को वह वश में कर लेता है। साथ ही वह अपना ध्यान केवल इसी एक प्राणिक सञ्चालन तक सीमित नहीं रखता, बल्कि वह पाँच मुख्य प्राणिक शक्तियों तथा बहुत सारी गौण शक्तियों में भेद कर सकता है, और हठयोगी ने इनमें से प्रत्येक को एक नाम दे दिया है और वह बहुत सी प्राणिक धाराओं के क्रिया-कलाप को वश में करना सीख लेता है। असंख्य आसन हैं, उसी तरह विभिन्न प्रकार के बहुसंख्यक प्राणायाम भी हैं, और मनुष्य तब तक पूर्ण हठयोगी नहीं हो सकता जब तक कि वह इन सभी आसन-प्राणायामों का स्वामी नहीं बन जाता। प्राण पर विजय यह 'गारण्टी' देती है कि व्यक्ति को पूर्ण स्वास्थ्य, ऊर्जा प्राप्त होंगे और आसनों के द्वारा वह भरपूर प्राण-शक्ति भी प्राप्त कर लेगा; हठयोग यह शक्ति भी प्रदान करता है कि व्यक्ति जब तक चाहे जीवित रहे और हठयोगी चार भौतिक तथा पाँच मनोवैज्ञानिक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर लेता है—*प्रकाम्य*—अर्थात्, मन तथा इन्द्रियों का पूरा-पूरा उत्साह, जिसमें दूरबोध, सूक्ष्म दृष्टि तथा दूसरी क्षमताएँ भी आ जाती हैं जिन्हें सामान्य मानव-जीवन में असाधारण माना जाता है; *व्याप्ति,* अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह है—दूसरों के विचारों, शक्तियों तथा संवेदनों को अपने अन्दर लेना और अपने विचारों, संवेदनों, शक्तियों या अपने व्यक्तित्व को दूसरों में प्रक्षिप्त करना; *ऐश्वर्यम्*—अर्थात्, घटनाओं पर अपना अधिकार तथा प्रभुत्व होना, सुख-समृद्धि और सभी इच्छित वस्तुओं को प्राप्त करना; *वशित*—अर्थात्, उच्चारित या लिखित शब्द का तात्कालिक आज्ञापालन हो; *इषित*—अर्थात्, प्रकृति की शक्तियों तथा जड़ तथा मूढ़ वस्तुओं पर पूर्ण आधिपत्य। इनमें से कुछ शक्तियों की खोज यूरोप में हाल ही में की गयी है जिन्हें वे वशीकरण या इच्छा-शक्ति के नाम से पुकारते हैं, लेकिन पुराने हठयोगियों ने जो उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं उनकी तुलना में यूरोपियन अनुभूतियाँ कमज़ोर तथा अवैज्ञानिक ठहरती हैं, यहाँ तक कि कई आधुनिक भारतीय हठयोगी भी अपनी विद्या में काफ़ी आगे निकल चुके हैं। लेकिन इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि प्राणायाम द्वारा विकसित संकल्प-शक्ति अतिभौतिक होती है, आध्यात्मिक नहीं।

आसन तथा प्राणायाम—इन दो के अतिरिक्त हठयोगी अन्य अनेक

अभ्यास करते हैं, उदाहरण के लिए, असाधारण रीतियों के द्वारा दैनिक रूप से वे अपने शरीर की भौतिक अशुद्धियों की सफ़ाई किया करते हैं। इन असंख्य तथा कठिन भौतिक अभ्यासों के द्वारा वे असाधारण बल, प्राण-शक्ति, पुरुषत्व, दीर्घायु पा लेते हैं और सामान्य मानव की पहुँच के परे का ज्ञान पाने में भी समर्थ होते हैं; समाधि में अपने शरीर को छोड़ सकते हैं, एक शब्द में कहें तो वे योग के द्वारा प्राप्त बड़ी हो या छोटी, प्रत्येक शक्ति को हस्तगत कर सकते हैं। लेकिन केवल अमिश्रित हठयोग का कठोर अभ्यास हठयोगी के अन्दर दानवाकार अहंकार पैदा कर देता है और वह विरले ही उसे पार कर पाता है। आधुनिक हठयोग राजयोग के साथ मिश्रित होता है, अतः, न वह इतना पुरुषत्व से भरा होता है न इतना समर्थ ही, और न ही वह पुरातन हठयोग के जितना ख़तरनाक ही होता है। CWSA खण्ड १, पृ. ५०५-०६

राजयोग

मन को शान्त करना

सच्चे अर्थ में प्राणायाम है, अपने अन्दर की प्राण-शक्ति तथा प्रकृति पर प्रभुत्व पाना, जो प्रत्येक राजयोगी के लिए अनिवार्य है, लेकिन इसे सरलतर तरीक़ों से भी पाया जा सकता है। एकमात्र भौतिक प्रक्रिया जिसे राजयोगी सहायक और करने-योग्य पाता है वह है नाड़ीशुद्धि—यानी, नियमित रूप से सचेतन श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया द्वारा स्नायु-मण्डल की शुद्धि—इसे लेटे हुए, बैठे हुए, पढ़ते-लिखते या चलते हुए सारे समय किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में महान् गुण हैं। समस्त मन तथा शरीर पर इसका अद्‌भुत रूप से अपूर्व शान्तिदायक प्रभाव पड़ता है, यह शरीर की इधर-उधर दुबकी हुई प्रत्येक बीमारी को खदेड़ बाहर निकाल देती है, गत जन्मों की सञ्चित यौगिक शक्ति को भी जगा देती है, यहाँ तक कि अगर ऐसी कोई भी शक्ति अन्दर प्रसुप्त न भी हो, यह प्रक्रिया कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए रास्ते की सभी भौतिक बाधाओं को परे हटा देती है।

लेकिन यह प्रक्रिया भी अनिवार्य नहीं है। राजयोगी जानता है कि मन को शान्त करके वह शरीर को शान्त कर सकता है, मन पर अधिकार

करके वह शरीर तथा प्राण दोनों को वश में कर सकता है। राजयोगी का यह महान् रहस्य होता है कि मन शरीर का स्वामी है, वही उसकी रचना करता और उसे अपने अनुकूल बनाता है, शरीर मन का स्वामी, सर्जक या उसके लिए नियम बनाने वाला अधिकारी नहीं होता।
CWSA खण्ड १, पृ. ५०८

राजयोग की एकाग्रता

राजयोग की एकाग्रता को चार क्रमिक अवस्थाओं में बाँटा गया है; इनमें पहली अवस्था है—मन तथा इन्द्रियों दोनों को बाहरी वस्तुओं से पीछे खींच लेना (प्रत्याहार); इससे अगली है—दूसरे सभी विचारों और मानसिक क्रिया-कलापों को त्याग कर, मन को एक ही विषय पर एकाग्रचित्त करना (धारणा); इसके बाद है—मन का इस विषय में सतत एकाग्र रहना (ध्यान); अन्तिम है—चेतना का पूरी तरह से अन्दर चले जाना जिसके द्वारा वह समाधि के एकत्व में पहुँच कर सभी बाहरी मानसिक क्रिया-कलापों से एकदम दूर चली जाती है। इस मानसिक अनुशासन का वास्तविक लक्ष्य होता है, मन को बाहरी तथा मानसिक जगत् से हटा कर भागवत परम सत्ता के साथ मिलन की अवस्था में ले जाना। इसलिए पहली तीन अवस्थाओं में किसी मानसिक साधन या सहारे का प्रयोग करना होता है जिसके द्वारा, एक विषय से दूसरे की ओर इधर-उधर दौड़ते रहने का अभ्यासी मन, एक ही विषय पर स्थिर हो जाये, और वह कोई ऐसा विषय होना चाहिये जो भगवान् के विचार का प्रतिनिधित्व करे। साधारणतया यह एक नाम, एक रूप या एक मन्त्र होता है जिसके द्वारा मन को प्रभु के अनन्य ज्ञान या उनकी आराधना में स्थिर किया जा सकता है। इस तरह अपने-आपको विचार पर एकाग्र करके मन विचार से होकर उसकी वास्तविकता में प्रवेश कर जाता है, जिसमें डूब कर वह निश्चल-नीरव, निमग्न और उसी का रूप बन जाता है। यह परम्परागत विधि है। हाँ, वैसे अन्य विधियाँ भी हैं जो समान रूप से राजयोग के ढंग की हैं, क्योंकि वे मानसिक तथा चैत्य सत्ता को कुञ्जी के रूप में प्रयोग में लाती हैं। उनमें से कुछ का उद्देश्य मन को तुरन्त निमग्न न कर उसे शान्त करना होता है, इस प्रकार की एक साधन-पद्धति वह है जिसके द्वारा मन का बस निरीक्षण किया जाता

है और निरुद्देश्य दौड़-धूप करते हुए बेसिर-पैर के विचारों में भटकते रहने की इसकी आदत को समाप्त होने दिया जाता है, इस तरीक़े में मन यह अनुभव करता है कि इस दौड़-धूप के लिए उसे जो अनुमति मिली हुई थी वह सब वापस ले ली गयी है और यह कि अब न उसका कोई उद्देश्य रहा है न उसे उसमें कोई रस ही रहा है। इस प्रकार की एक और पद्धति भी है जो अधिक श्रमसाध्य और शीघ्र फल देने वाली है। उसमें समस्त बहिर्मुख विचार को बहिष्कृत करके मन को अपने ही अन्दर डूबने के लिए बाध्य किया जाता है। उस स्थिति में अपनी पूर्ण अचञ्चलता में वह केवल शुद्ध 'परम सत्ता' पर ही विचार कर सकता है या फिर उसकी अतिचेतन सत्ता में प्रवेश पा सकता है। तरीक़े में भेद होता है, लेकिन लक्ष्य तथा परिणाम एक ही होते हैं। CWSA खण्ड २३, पृ. ५४०-४१

राजयोग की पतञ्जलि-पद्धति

राजयोग के तीन प्रकार हैं—*सचेष्ट, सल्पचेष्ट* और *निश्चेष्ट*—चैत्य के साथ, अल्प चेष्टा के साथ, चेष्टा के बिना। पतञ्जलि का पद्धतिबद्ध एकमात्र योग है, यद्यपि प्रत्येक एकदम सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध है—सबमें अन्त तक महान् प्रयास और चेष्टा करनी होती है... पहला चरण है, नैतिक स्वभाव की तैयारी, हृदय का अनुशासन, प्रेम, शुद्धि, साहस तथा अचञ्चलता के साथ हृदय को पूर्ण बनाना, जिनके बिना राजयोग में सिद्धि पाना असम्भव है। पतञ्जलि पाँच *यम* या नैतिक अनुशासनों—सत्य, न्याय, सच्चाई, अहानि, शुद्धि तथा अधिकार को अस्वीकारना—का अभ्यास करने के लिए कहते हैं और पाँच *नियम* या नैतिक आदतें हैं—स्वच्छता और शुद्धि, सन्तोष, सादगी, धर्मग्रन्थों पर ध्यान लगाना, प्रभु की आराधना तथा भक्ति। इन आदतों तथा अनुशासनों को प्रतिष्ठित करने और हृदय की अशुद्धियों को दूर करने के लिए यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि हमें इन सभी यम-नियमों का निरन्तर अभ्यास करने का परामर्श देते हैं।...

इसके बाद आसन तथा प्राणायाम के द्वारा शरीर पर अचञ्चलता प्राप्त करने और प्राण पर प्रभुत्व पाने की सलाह देते हैं। इसका कारण स्पष्ट ही है। हठयोग का प्राणायाम शुद्धि नहीं, बल्कि शक्ति और तीव्रता की ओर बढ़ता है; वह जिस किसी गुण को शरीर-तन्त्र में प्रभावशाली पाता है उसे

क्रिया तथा बल में दसगुना बढ़ा देता है। अतः, जब तक पहले से जीवन तथा स्वभाव को अचञ्चल और शुद्ध नहीं बना दिया जाये, अपने ही बल-बूते पर किया गया प्राणायाम बहुतायत में नैतिक, भौतिक तथा मानसिक उपद्रव पैदा कर सकता है।...

अगली चीज़ है—मन पर प्रभुत्व पाना—अशान्त, हठीले और निरन्तर फुदकते रहने वाले उस चालाक मन को वश में करना बड़ी टेढ़ी खीर है। यहाँ भी, पहले की तरह पतञ्जलि पूरी तरह से *अभ्यास* पर निर्भर रहने को कहते हैं। वे एकाग्रता को विकास की चार अवस्थाओं में व्यवस्थित करते हैं : *प्रत्याहार*—अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच कर अन्तर्मुख हो जाना; *धारणा*—मन को एक ही विचार, भाव या विषय पर क्षण-भर के लिए एकाग्रचित्त करना,—जैसे शरीर के एक ही हिस्से—नाक की नोक या भ्रूमध्य पर दत्तचित्त होना; *ध्यान*—इसी एकाग्रचित्तता की अवस्था को नियत समय तक बनाये रखना; *समाधि*—अपने-आपको अनिश्चित काल तक पूरी तरह से अन्तर्मुख रखना।...

एक बार एकाग्रता प्राप्त हो जाने पर हम चलते हैं उस पर जिसे पतञ्जलि योग का सारतत्त्व कहते हैं, सभी *वृत्तियों*, अर्थात्, सभी मानसिक तथा नैतिक गुणों पर संयम प्राप्त कर लेना और समस्त आवेगहीन समझदार संकल्प-शक्ति को आत्मा में स्थित कर लेना, अथवा योगी जिस किसी चीज़ पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है उस पर वह अपना चित्त एकाग्र कर ले—वह भगवान् की उपलब्धि से लेकर सांसारिक वस्तुओं का भोग तक, कुछ भी हो सकता है। लेकिन वृत्तियों को चुप करना कहाँ तक प्रभावकारी होता है? क्योंकि *यम* और *नियम* केवल कुछ अच्छी आदतों को ही प्रतिष्ठित करते हैं, वे मन तथा हृदय की पूरी-पूरी सफ़ाई नहीं करते। हमें पूरी सफ़ाई करने के लिए अभ्यास में लगातार लगे रहना चाहिये, यानी, बुरी वृत्तियों के स्थान पर अच्छी वृत्तियों को लाना, बहुत सी अच्छी वृत्तियों के स्थान पर उनसे कुछ अधिक अच्छी तथा उन कुछ अधिक अच्छी के स्थान पर सबसे अच्छी यानी, उत्तम वृत्तियों को लाने में तब तक अथक रूप से लगे रहना जब तक सम्पूर्ण *संयम* न प्राप्त हो जाये। पतञ्जलि के योगाभ्यास द्वारा अगर एकाग्रता की शक्ति को पूरी तरह से प्राप्त किया जा सके तो इसे भी किया जा सकता है, आसानी से तो नहीं, क्योंकि बहुतेरी

कठिनाइयाँ आती हैं, लेकिन ऐसी नहीं जिन्हें लाँघा न जा सके।
CWSA खण्ड १, पृ. ५०८-१०

कुण्डलिनी का जागरण

राजयोग की प्रारम्भिक क्रिया होती है एक सतर्क आत्म-नियन्त्रण की क्रिया, जिसके द्वारा निम्न स्नायविक सत्ता को सन्तुष्ट करने वाली नियमरहित क्रियाओं के स्थान पर मन के अच्छे अभ्यास डाले जाते हैं। तब सत्य के अभ्यास द्वारा, अहंकार से भरी खोज के सभी पहलुओं के त्याग से, दूसरों को हानि न पहुँचाने की प्रवृत्ति से और पवित्रता से तथा निरन्तर ध्यान लगाने और उन दिव्य पुरुष के प्रति आकर्षण से—जो मानसिक राज्य के सच्चे स्वामी हैं—व्यक्ति के अन्दर मन और हृदय की एक शुद्ध, प्रसन्न तथा निर्मल अवस्था स्थापित हो जाती है।

लेकिन यह तो बस पहला क़दम है। इसके बाद मन और इन्द्रियों की सामान्य क्रियाओं को एकदम से शान्त बना देना चाहिये ताकि अन्तरात्मा चेतना के उच्चतर स्तरों तक चढ़ सके और एक पूर्ण स्वाधीनता तथा आत्म-संयम के लिए आधार तैयार कर सके, लेकिन साथ ही राजयोग यह नहीं भूलता कि सामान्य मन की अयोग्यता इस बात में है कि वह स्नायविक प्रणाली और शरीर की प्रतिक्रियाओं के अधीन रहता है। इस कारण वह हठयोग की प्रणाली के आसन और प्राणायाम के तरीक़े तो ग्रहण कर लेता है, लेकिन वह उनके जटिल रूपों को एक सरल किन्तु प्रभावशाली प्रक्रिया में बदल देता है। इस प्रकार वह हठयोग की बोझिलता से मुक्त रहते हुए सरपट आगे बढ़ता है। इनका उपयोग वह शारीरिक तथा प्राणिक क्रियाओं के नियन्त्रण तथा उस आन्तरिक ऊर्जा को प्राप्त करने के लिए करता है जो एक प्रसुप्त लेकिन असाधारण शक्ति से परिपूर्ण होती है। योग की भाषा में यह कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है, यानी, अन्दर की कुण्डलित तथा प्रसुप्त सर्पाकार शक्ति। जब वह जाग जाती है तब राजयोग की प्रणाली और आगे बढ़ती है और अशान्त मन को पूरी तरह से शान्त कर देती है और उसे समाधि तक पहुँचाने वाली क्रमिक अवस्थाओं में से गुज़ारते हुए मानसिक शक्ति की एकाग्रता के द्वारा उच्चतर स्तर तक ले जाती है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३६

ज्ञानयोग

ज्ञान के पथ द्वारा आत्म-सिद्धि की प्राप्ति

ज्ञान के पथ का उद्देश्य है—अद्वितीय तथा उच्चतम 'सत्ता' की प्राप्ति। यह बौद्धिक चिन्तन, अर्थात् विचार की प्रणाली के द्वारा वास्तविक विवेक-बुद्धि की ओर बढ़ता है। यह हमारी ऊपरी, अर्थात् दिखायी देने वाली सत्ता के विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करता, उन्हें अलग-अलग करता है और साथ ही ख़ुद उनसे अलग-थलग रहते हुए उनके परस्पर-विरोध के सिद्धान्त को देखता-परखता है। ये विभिन्न तत्त्व प्रकृति की, यानी, दृश्यमान प्रकृति की—जिसे कुछ लोग माया कहते हैं—विभिन्न रचनाएँ हैं, और ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने के बाद ज्ञानयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस जगत् के सभी प्राणी—चर और अचर—विभिन्न होते हुए भी वास्तव में उसी 'परम तत्त्व' में उपस्थित हैं। इस प्रकार ज्ञानयोग एकमेव 'सत्ता' के साथ अपना ऐसा सच्चा तादात्म्य साध लेता है जिसे फिर न तो वह बदल सकता है और जो न ही नष्ट हो सकता है। इस दृष्टिकोण से इस मार्ग का—जिसका सामान्यतया अनुसरण किया जाता है—परिणाम यह होता है कि दृश्यमान जगतों को भ्रान्ति समझ कर चेतना से निकाल बाहर कर दिया जाता है और व्यक्तिगत आत्मा 'परम' सत्ता में अन्तिम रूप में लीन हो जाती है, और फिर वहाँ से लौटती ही नहीं।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३८

परम्परागत तथा पूर्णयोग का पथ

परम्परागत ज्ञानमार्ग बहिष्कार की प्रक्रिया के द्वारा आगे बढ़ता है और निश्चल आत्मा या परम शून्य या अव्यक्त निरपेक्ष में निमज्जित होने के लिए शरीर, प्राण, इन्द्रियों, हृदय तथा विचार तक का क्रमशः परित्याग कर देता है।

पूर्ण ज्ञान का मार्ग यह मानता है कि सर्वांगीण आत्म-परिपूर्णता उपलब्ध करना ही हमारे लिए नियत उद्देश्य है और एकमात्र त्यागने-योग्य वस्तु हमारी अपनी अचेतनता, हमारा अज्ञान और उसके परिणाम हैं। जो सत्ता अहं का रूप धारण किये हुए है उसके मिथ्यात्व का त्याग कर दो; तब

हमारी सच्ची सत्ता हमारे अन्दर प्रकट हो सकती है। जो प्राण निरी प्राणिक लालसा का तथा हमारे शारीरिक जीवन के यान्त्रिक चक्र का रूप धारण किये हुए है उसके मिथ्यात्व को त्याग दो; और तब परमेश्वर की शक्ति में और अनन्त के हर्ष में अवस्थित हमारा सच्चा प्राण प्रकट हो उठेगा। स्थूल दृश्य-प्रपञ्च और द्वन्द्वात्मक संवेदनों के वशीभूत इन्द्रियों के मिथ्यात्व का त्याग कर दो; हमारे अन्दर एक महत्तर इन्द्रिय है जो इनके द्वारा वस्तुओं में विद्यमान भगवान् की ओर खुल सकती है तथा दिव्य रूप में उसे प्रत्युत्तर दे सकती है। अपनी कलुषित वासनाओं और कामनाओं तथा द्वन्द्वात्मक भावों से युक्त हृदय के मिथ्यात्व को त्याग दो; हमारे अन्दर एक गभीरतर हृदय खुल सकता है जो प्राणिमात्र के लिए दिव्य प्रेम से तथा अनन्त के प्रत्युत्तरों के लिए असीम अभिलाषा और उत्कण्ठा से युक्त है। उस विचार के मिथ्यात्व का परित्याग कर दो जो अपनी अपूर्ण मानसिक रचना, अपनी अहंकारपूर्ण स्थापनाओं और निषेधों तथा अपनी सीमित और ऐकान्तिक एकाग्रताओं से युक्त है; ज्ञान की एक महत्तर शक्ति इसके पीछे अवस्थित है जो ईश्वर, आत्मा, प्रकृति और जगत् के वास्तविक सत्य की ओर खुल सकती है। लक्ष्य है, सर्वांगीण आत्म-चरितार्थता—अर्थात्, हृदय के अनुभवों के लिए, इसकी प्रेम, हर्ष, भक्ति और पूजा-सम्बन्धी सहज प्रवृत्ति के लिए, एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; इन्द्रियों के लिए, वस्तुओं के रूपों में इनकी दिव्य सौन्दर्य, शिव और आनन्द की खोज के लिए एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; प्राण के लिए, इसकी कर्म करने तथा दिव्य शक्ति, प्रभुत्व और पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के लिए एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; विचार के लिए, इसकी सत्य, प्रकाश, दिव्य प्रज्ञा और ज्ञान की भूख के लिए इसकी सीमाओं से परे एक चरम लक्ष्य एवं परिणति।

हमारी प्रकृति के इन अंगों का लक्ष्य कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो इनसे सर्वथा भिन्न हो तथा जिससे इन सबको बहिष्कृत कर दिया जाता हो, बल्कि एक ऐसी परम सद्वस्तु है जिसमें ये अपने-आपका अतिक्रमण कर जाते हैं और साथ ही अपने चरम एवं अनन्त रूपों को तथा मायातीत सामञ्जस्यों को भी प्राप्त कर लेते हैं।

CWSA खण्ड २३, पृ. २९१-९२

एकाग्रता की शक्ति

किसी भी वस्तु पर अपने-आपको एकाग्र करके हम उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसे अपने गुप्त रहस्यों को उजागर करने के लिए विवश कर सकते हैं; इस शक्ति का प्रयोग हमें वस्तुओं को नहीं, बल्कि एकमात्र 'निरपेक्ष सद्वस्तु' को जानने के लिए करना चाहिये। और फिर, एकाग्रता के द्वारा सम्पूर्ण संकल्प-शक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति के लिए जुटाया जा सकता है जो अभी तक हमारे अधिकार में नहीं आयी है, अभी तक हमारी पहुँच के परे है; यदि यह शक्ति पर्याप्त सधी हुई हो, पर्याप्त एकनिष्ठ और पर्याप्त निष्ठापूर्ण हो, अपने बारे में निश्चयवान्, केवल अपने ही प्रति दृढ़निष्ठ तथा पूर्ण श्रद्धामय हो तो इसे हम चाहे किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयोग में ला सकते हैं; परन्तु इसका प्रयोग हमें उन अनेक चीज़ों को पाने के लिए नहीं करना चाहिये जिन्हें संसार हमारे सामने प्रस्तुत करता है, बल्कि आध्यात्मिक रूप में उस एक वस्तु को अधिकृत करने के लिए करना चाहिये जो खोजने-योग्य है और साथ ही जो एकमात्र जानने-योग्य विषय है। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उसकी किसी एक ही अवस्था पर एकाग्र करके हम जो कुछ बनना चाहें बन सकते हैं; उदाहरणार्थ, भले हम पहले दुर्बलताओं और भयों का पुञ्ज क्यों न रहे हों, पर अब हम उसके स्थान पर बल और साहस का पुञ्ज बन सकते हैं, अथवा हम पूर्ण रूप से एक महान् शुद्धता, पवित्रता एवं शान्ति की मूर्ति या फिर 'प्रेम' की एक वैश्व आत्मा बन सकते हैं; परन्तु यह कहा जा सकता है कि इस शक्ति का प्रयोग हमें ये चीज़ें बनने के लिए भी नहीं करना चाहिये, भले ये, जो कुछ हम आज हैं उसकी तुलना में ऊँची ही क्यों न हों, बल्कि हमें इसका प्रयोग वह शुद्ध और निरपेक्ष सत्ता बनने के लिए करना चाहिये जो सब वस्तुओं से ऊपर है तथा समस्त क्रियाओं और गुणों से मुक्त है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३१८

बाह्य नहीं, आन्तरिक प्रक्रिया

हमारा त्याग, स्पष्ट ही, एक आन्तरिक त्याग होना चाहिये; विशेषतया और सबसे बढ़ कर, वह इन तीन चीज़ों का त्याग होना चाहिये—इन्द्रियों

और हृदय में से आसक्ति तथा कामना-लालसा का, विचार और कर्म में से अहंकारपूर्ण स्वेच्छा का और चेतना के केन्द्र में से अहंभाव का। क्योंकि ये ही चीज़ें वे तीन गाँठें हैं जिनसे हम अपनी निम्नतर प्रकृति के साथ बँधे हुए हैं और अगर हम इनका पूर्ण रूप से त्याग कर सकें तो और कोई ऐसी चीज़ नहीं जो हमें बाँध सके। इसलिए आसक्ति और कामना को पूरी तरह से निकाल फेंकना होगा; इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जिसके प्रति हमें आसक्त होना चाहिये, न धन-दौलत, न ग़रीबी, न हर्ष, न शोक, न जीवन, न मरण, न महानता, न क्षुद्रता, न पाप, न पुण्य, न मित्र, न स्त्री, न सन्तान, न स्वदेश, न अपना कार्य और ध्येय, न स्वर्ग, न भूतल और न वह सब जो इनके अन्दर या इनसे परे है।

इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ ऐसी कोई भी चीज़ नहीं है जिससे हमें प्रेम करना चाहिये, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें हमें आनन्द लेना चाहिये; क्योंकि आसक्ति का मतलब है, प्रेम में रहने वाला अहंकार, न कि स्वयं प्रेम; कामना का अर्थ है, सुख और सन्तोष की भूख में निहित सीमितता और सुरक्षितता, न कि वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आनन्द की खोज। पर सार्वभौम प्रेम तो हमारे अन्दर अवश्य होना चाहिये, ऐसा प्रेम जो शान्त एवं स्थिर हो और फिर भी उत्कट-से-उत्कट अनुराग के क्षणिक आवेश के परे नित्य रूप से प्रगाढ़ रहने वाला हो; इस विश्व की वस्तुओं में आनन्द हमें अवश्य लेना चाहिये, पर ऐसा आनन्द जो भगवान् में मिलने वाले आनन्द पर आधारित होता है और जो वस्तुओं के बाह्य रूपों के साथ नहीं चिपटता, बल्कि उनके अन्दर छुपे हुए तत्त्व को मज़बूती से पकड़े रखता है तथा जगत् के पाशों में फँसे बिना[१] इसका आलिंगन करता है।

अगर हम दिव्य कर्मों के मार्ग में पूर्ण बनना चाहें तो हमें अपने विचार और कर्म में रहने वाली अहंकारपूर्ण स्वेच्छा को पूरी तरह से त्याग देना होगा; उसी प्रकार अगर हमें दिव्य ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करनी हो तब भी हमें इसका पूरी तरह से त्याग करना होगा। इस स्वेच्छा का मतलब है, मन का अहंभाव जो अपनी पसन्दगियों तथा आदतों के प्रति और विचार, दृष्टिकोण एवं संकल्प की अपनी अतीत या वर्तमान रचनाओं के प्रति

[१] निर्लिप्त। वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आनन्द निष्काम और निर्लिप्त है, कामना से मुक्त, अतएव अनासक्त है।

आसक्त हो जाता है, क्योंकि यह उन्हें 'अपना-आप' या अपनी समझता है, उनके चारों ओर "मैं-पन" और "मेरे-पन" के सूक्ष्म तन्तुओं का जाल बुन डालता है और जाले में मकड़ी की तरह उनमें निवास करता है। जैसे मकड़ी अपने जाले पर आक्रमण बिलकुल पसन्द नहीं करती, वैसे ही यह भी अपने साथ छेड़छाड़ बिलकुल पसन्द नहीं करता और यदि इसे नये दृष्टि-बिन्दुओं एवं नयी धारणाओं के क्षेत्र में ले जाया जाये तो वहाँ यह अपने-आपको परदेसी और दुःखी अनुभव करता है जैसे मकड़ी को अपने जाले के सिवाय किसी और जाले में सब कुछ विदेशी और विजातीय लगता है। इस आसक्ति को अपने मन से पूरी तरह से निकाल फेंकना होगा। इतना ही नहीं कि हमें जगत् और जीवन के प्रति उस साधारण मनोवृत्ति का त्याग करना होगा जिसे अजागरित मन अपना एक स्वाभाविक अंग समझता हुआ उसके साथ चिपटा रहता है; बल्कि हमें अपनी गढ़ी हुई किसी मानसिक धारणा में या किसी बौद्धिक विचार-पद्धति में अथवा धार्मिक सिद्धान्तों या तार्किक परिणामों की किसी क्रमशृंखला में भी नहीं बँधे रहना चाहिये; हमें केवल मन और इन्द्रियों के पाश को नहीं काटना है, बल्कि विचारक, धर्मगुरु और सम्प्रदाय-प्रवर्तक के पाश से भी, अर्थात्, 'शब्द' के जाल तथा 'विचार' के बन्धन से भी मुक्त होकर इनसे बहुत परे चले जाना है। ये सब बन्धन आत्मा को बाह्य रूपों के घेरे में बन्द करने के लिए हमारे अन्दर तैयार बैठे रहते हैं; लेकिन हमें सदा इन्हें पार करते जाना होगा, सदा ही महत्तर के लिए लघुतर को तथा अनन्त के लिए सान्त को त्यागते जाना होगा; हमें एक प्रकाश से दूसरे प्रकाश की ओर, एक अनुभव से दूसरे अनुभव तथा आत्मा की एक अवस्था से उसकी दूसरी अवस्था की ओर बढ़ने के लिए तैयार रहना होगा जिससे कि हम भगवान् की चरम परात्परता तथा चरम विश्वमयता तक पहुँच सकें। इसी प्रकार, जिन सत्यों को हम अत्यन्त सुरक्षित मानते हुए उन पर विश्वास करते हैं उनसे भी हमें आसक्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे उस अनिर्वचनीय ब्रह्म के रूप और अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं जो किसी भी रूप या अभिव्यक्ति तक अपने-आपको सीमित रखने से इन्कार करता है; हमें, सदा ही, ऊपर से आने वाले उस उच्चतर 'शब्द' की ओर खुले रहना चाहिये जो अपने-आपको अपने अभिप्राय तक ही सीमित नहीं रखता; साथ ही हमें उस 'विचार' के

प्रकाश की ओर भी खुले रहना चाहिये जो अपने अन्दर अपने से उलटे विचारों को भी धारण किये रहता है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३२९-३१

भीतरी गाँठ

अगर इस एकमेव 'आत्मा' की उपलब्धि, चरितार्थता और सेवा हमसे एक ऐसे कार्य की माँग करती हैं जो दूसरों को—अहंकारपूर्ण अर्थ में—अपनी सेवा या अपनी ही ख्याति प्रतीत होता है या फिर अहंपूर्ण भोग एवं अहं-तुष्टि प्रतीत होता है फिर भी वह कार्य हमें करना ही है, हमें अपने अन्दर के मार्गदर्शक के निर्देशानुसार चलना है न कि लोगों की सम्मतियों के अनुसार। परिस्थिति का प्रभाव प्रायः बहुत सूक्ष्म रूप में कार्य करता है; हम प्रायः अचेतन रूप में उस वेश को अधिक पसन्द करते हैं तथा उसी को पहन भी लेते हैं जो बाहर से देखने वाली आँख को सर्वोत्तम दीख पड़ता है और इस प्रकार हम अपने अन्दर की आँख पर परदा पड़ जाने देते हैं; हम दरिद्रता के व्रत का या सेवा का बाना पहनने या फिर उदासीनता, त्याग एवं निष्कलंक साधुता के बाह्य प्रमाणों का जामा पहनने को प्रेरित होते हैं, क्योंकि परम्परा एवं लोकमत हमसे इसी चीज़ की माँग करता है और साथ ही इसी प्रकार हम अपनी परिस्थिति पर सर्वोत्तम प्रभाव डाल सकते हैं। परन्तु यह सब मिथ्याभिमान और भ्रममात्र है। इन चीज़ों का वेश भी हमें धारण करना पड़ सकता है, क्योंकि वह हमारी सेवा की वर्दी हो सकता है; पर वह ऐसा नहीं भी हो सकता। बाह्य मानव की दृष्टि का कुछ भी महत्त्व नहीं; अन्दर की आँख ही सब कुछ है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ३३१

वैराग्य

प्राण के ज़ोरदार आकर्षण के प्रतिकार-स्वरूप मैं वैराग्य की अस्थायी अवस्था की उपयोगिता का पूरा-पूरा समर्थन करता हूँ, लेकिन वैराग्य हमेशा जीवन से मुँह मोड़ लेने की ओर प्रवृत्त होता है और वैराग्य में हमेशा एक तामसिक तत्त्व तथा हताशा, अवसाद इत्यादि होते हैं, यह बहुधा व्यक्ति की शक्ति को क्षीण कर देता है और कई तो न घर के रहते हैं, न घाट

के—न उन्हें धरती मिलती है, न स्वर्ग ही। इस वजह से मैं ज़्यादा पसन्द करता हूँ कि त्याग को लाया जाये—यानी, सेक्स, दर्प, अहंकेन्द्रिकता, आसक्ति इत्यादि, इत्यादि चीज़ों का चुपचाप, धीरे-धीरे त्याग; लेकिन इनमें वे क्रिया-कलाप तथा शक्तियाँ नहीं आतीं जो साधना तथा भागवत कर्म के साधन बन सकती हैं, जैसे—कला, संगीत, काव्य आदि। जीवन के त्याग तथा बहिष्कार के बिना, जीवन के हर्ष तथा प्राण-शक्ति को मार डाले या दुर्बल बनाये बिना योग किया जा सकता है।

अतीत में मैंने तपोमय तथा तामसिक प्रकार के वैराग्य के बारे में आपत्ति की है—और तामसिक प्रकार से मेरा मतलब है, उस भावना का होना जो जीवन से पराजित होकर आती है, यह नहीं कि वह जीवन से सचमुच घृणा करती है बल्कि इसलिए कि वह जीवन के साथ-साथ नहीं चल सकती या उससे आनन्द नहीं उठा सकती; क्योंकि वह योग को इस दृष्टि से देखती है मानों वह अशक्त तथा कमज़ोर लोगों के लिए एक तरह का शरणस्थल हो और ईश्वर को तो वह बस दिलासा देने वाला वह उपहार मानती है जो जीवन की परीक्षा में फ़ेल हुए विद्यार्थियों के हाथ लगता है। उस व्यक्ति का वैराग्य, जिसने जीवन के उपहारों या देनों का स्वाद चखा है, लेकिन वह उन्हें पर्याप्त नहीं मानता, और अन्त में, वह सब उसे रसहीन लगने लगता है और वह उससे मुँह फेर कर एक उच्चतर और अधिक सुन्दर आदर्श की ओर मुड़ता है या ऐसे का वैराग्य जिसने जीवन के संघर्षों की अपनी भूमिका निभायी, लेकिन यह देखा कि उसकी अन्तरात्मा किसी महानतर वस्तु की माँग कर रही है, यह योग में पूरी तरह से सहायक होता है और उसमें प्रवेश का सही द्वार है। और साथ ही सात्त्विक वैराग्य भी अच्छा होता है—जिसने जीवन का पाठ पढ़ लिया हो और फिर जीवन के पीछे ऊपर उठ कर देखना चाहता है कि वहाँ क्या है। तपोमय वैराग्य से मेरा मतलब है, वह वैराग्य जो जीवन तथा जगत् को पूरी तरह से नकार देता है और अनिश्चित में विलीन हो जाना चाहता है—और मैं इस पर आपत्ति उठाता हूँ जो इस योग को इसलिए असंगत मानते हैं क्योंकि मेरा लक्ष्य जीवन और जगत् में भगवान् को उतारना है। लेकिन अगर व्यक्ति, जीवन जैसा है उससे सन्तुष्ट हैं, तो जीवन में भगवान् को उतारने की इच्छा रखने का कोई कारण ही नहीं—तब तो जीवन से

असन्तोष के अर्थ में वैराग्य की अनुमति पूरी तरह से मान्य है और अमुक अर्थ में अनिवार्य भी।

*

एक सात्त्विक वैराग्य होता है—लेकिन बहुतों में राजसिक या तामसिक प्रकार का होता है। राजसिक स्वयं अपने जीवन की अवस्थाओं के विद्रोह में उठता है, तामसिक में होता है, असन्तोष, हताशा, जीवन में सफल होने या जीवन का सामना करने की असमर्थता का भाव, जीवन के शिकंजों तथा परेशानियों और दुःख-दर्दों के नीचे दबे रहने का एहसास। यह चीज़ स्वयं अस्तित्व के प्रति एक तरह के मिथ्याभिमान को भी ला सकती है, फिर व्यक्ति इस इच्छा के पीछे भागता है कि उसका जीवन कम दुःखदायी हो, अधिक आश्वस्त करने वाला हो या फिर वह इस जीवन से ही छुटकारा पाने की कामना करता है, लेकिन इस तरह के वैराग्य में कोई प्रदीप्त अभीप्सा या पवित्र अभीप्सा नहीं होती जिसके साथ आध्यात्मिक उपलब्धि पाने के लिए शान्ति और हर्ष हों।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३८८-८९ **श्रीअरविन्द**

BOX

हठयोग और राजयोग जैसी कुछ ऐसी साधनाएँ भी हैं जिनका अभ्यास करते हुए भी, हो सकता है कि साधक का आध्यात्मिक जीवन से कोई सम्बन्ध न हो। अधिकतर हठयोग द्वारा शरीर पर और राजयोग द्वारा मन पर संयम हो जाता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने का अर्थ है, भगवान् में गोता लगाना, ठीक उसी तरह जैसे कोई समुद्र में कूद पड़े। और यह भी केवल आरम्भ है, अन्त नहीं। क्योंकि गोता लगाने के बाद तुम्हें भगवान् में निवास करना सीखना होगा। इसका क्या उपाय है? तुम्हें सीधे कूद पड़ना चाहिये, यह सोचे बिना कि 'मैं कहाँ गिरूँगा, मेरी क्या दशा होगी।' तुम्हारे मन की झिझक ही है जो तुम्हें रोकती है। तुम्हें अपने-आपको छोड़ देना चाहिये। यदि तुम समुद्र में गोता लगाना चाहो और साथ-ही-साथ यह सोचते रहो कि कहीं आस-पास कोई पत्थर या चट्टान न हो, तो तुम गोता नहीं लगा सकते।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २६

भक्तियोग

भक्ति का सिद्धान्त

भगवान् के प्रति भक्ति का भाव रखने से दो प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं—दिव्य पिता और माता का पुत्र से सम्बन्ध और दिव्य सखा का सम्बन्ध। मानव आत्मा भगवान् को माता-पिता या सखा मान कर उनके पास सहायता के लिए, रक्षा के लिए, मार्गदर्शन के लिए, इष्टफल के लिए आती है—अथवा यदि इसका लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना हो तो यह उन्हें गुरु, शिक्षक, प्रकाशदाता मान कर उनकी शरण में जाती है, क्योंकि भगवान् ज्ञान के सूर्य हैं—अथवा वह दुःख-दर्द के समय सुख-शान्ति और मुक्ति के लिए भगवान् के पास जाती है, भले ही यह स्वयं दुःख से मुक्ति चाहती हो या इस दुःख-धाम जगत्-जीवन से अथवा इसके सभी आन्तरिक और वास्तविक कारणों से। *गीता* में जो चार प्रकार के भक्त माने गये हैं, वे उन्हीं में से तीन हैं, आर्त (दुःखित), अर्थार्थी (अपने लिए भोग्य पदार्थों की कामना करने वाला), जिज्ञासु (ईश्वर-ज्ञान का अभिलाषी)। इन चीज़ों में हम एक विशेष प्रकार का क्रम पाते हैं। पिता का सम्बन्ध सदा ही कम निकट, तीव्र, स्निग्ध और अन्तरंग होता है, अतएव योग में इसका आश्रय कम ही लिया जाता है, क्योंकि योग चाहता है घनिष्ठ मिलन। दिव्य सखा का सम्बन्ध अधिक मधुर और अधिक अन्तरंग वस्तु है। इसमें असमानता के अन्दर भी समानता और घनिष्ठता के लिए अवकाश होता है, पारस्परिक आत्मदान प्रारम्भ करने की गुंजायश होती है, अपने अत्यन्त घनिष्ठ रूप में, जब अन्य प्रकार के लेन-देन का समस्त विचार लुप्त हो जाता है, जब इस सम्बन्ध में एकमात्र सुपर्याप्त प्रेम के उद्देश्य के सिवा और कोई उद्देश्य नहीं रहता, तब यह जीवन-लीला के साथी के स्वतन्त्र और सुखद सम्बन्ध का रूप धारण कर लेता है। परन्तु माता-पुत्र का सम्बन्ध और भी अधिक निकट तथा अन्तरंग है, अतः, जहाँ धार्मिक उमंग अत्यन्त समृद्ध उल्लास से युक्त होती है वहाँ यह बहुत बड़ा भाग लेता है और मनुष्य के हृदय से अत्यन्त उत्साहपूर्वक उमड़ पड़ता है। आत्मा अपनी सभी कामनाओं और अपने कष्टों में मातृस्वरूपा आत्मा के पास जाती है और भगवती माता चाहती हैं कि ऐसा ही हो ताकि वे अपना प्रेममय हृदय पूरी तरह से उँडेल

सकें। आत्मा उनकी ओर इसलिए भी मुड़ती है कि इस प्रेम का स्वयंसिद्ध स्वभाव ही ऐसा है और इसलिए भी कि यह प्रेम हमें एक ऐसे घर का संकेत देता है जिसकी ओर हम जगत् में भटक चुकने के बाद मुड़ते हैं और एक ऐसे हृदय की ओर इंगित करता है जिसमें हम विश्राम पाते हैं। CWSA खण्ड २४, पृ. ५६८

प्रारम्भ में प्रार्थना निम्न स्तर पर भी हमारे लिए इस सम्बन्ध को तैयार करने में सहायता पहुँचाती है। यद्यपि इस अवस्था में, हमारे अन्दर जो बहुत-सी चीज़ें निरे अहंकार और आत्म-छलना से भरी होती हैं उनके साथ भी यह ताल मिलाये रहती है, लेकिन बाद में हम इसके मूल में स्थित आध्यात्मिक सत्य की ओर बढ़ सकते हैं। इसलिए मुख्य वस्तु है, इस प्रकार का साक्षात् सम्बन्ध, मनुष्य-जीवन का ईश्वर से सम्पर्क, सचेतन आदान-प्रदान, न कि पार्थिव वस्तु की प्राप्ति। आध्यात्मिक विषयों में और आध्यात्मिक सम्पत्ति की खोज में यह सचेतन सम्बन्ध महान् शक्ति है; यह हमारे पूर्णतः आत्म-निर्भर संघर्ष तथा प्रयास से अधिक महत्तर शक्ति है और इसके द्वारा पूर्णतर आध्यात्मिक उन्नति एवं अनुभूति प्राप्त होती है। अवश्य ही, अन्त में प्रार्थना या तो उस महत्तर वस्तु में जाकर समाप्त हो जाती है जिसके लिए इसने हमें तैयार किया था—असल में जब तक हमारे अन्दर श्रद्धा, संकल्प, अभीप्सा हैं तब तक वह रूप, जिसे हम प्रार्थना के नाम से पुकारते हैं, उसकी अपने-आपमें कोई आवश्यकता ही नहीं है—अथवा यह केवल सम्बन्ध के हर्ष के लिए ही बनी रहती है। इसके उद्देश्य, इसके काम्य पदार्थ (अर्थ) भी उत्तरोत्तर ऊँचे-से-ऊँचे होते जाते हैं; फलतः, अन्त में हम सर्वोच्च अहैतुकी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो अन्य किसी माँग या लालसा से रहित, शुद्ध एवं सरल दिव्य प्रेम से भरी भक्ति होती है। CWSA खण्ड २४, पृ. ५६७-६८

सर्वांगीण भक्तियोग का मार्ग

सर्वांगीण भक्तियोग का मार्ग यह होगा कि ईश्वर-विषयक इस विचार को हम विश्वमय बनायें, एक बहुविध और सर्वालिंगनकारी सम्बन्ध के द्वारा उन्हें घनिष्ठ वैयक्तिक रूप दे दें, नित्य-निरन्तर उन्हें अपनी सम्पूर्ण

सत्ता के समक्ष उपस्थित रखें और अपनी सारी-की-सारी सत्ता उन पर उत्सर्ग कर दें, उन्हीं को दे दें, समर्पित कर दें, जिससे वे हमारे निकट और हमारे अन्दर और हम उनके संग और उनके अन्दर निवास करें। मनन और दर्शन करना, सभी वस्तुओं में अनवरत उन्हीं का चिन्तन और सदा-सर्वदा-सर्वत्र उन्हीं के दर्शन करना इस भक्तिमार्ग का अनिवार्य अंग है। जब हम भौतिक प्रकृति की चीज़ों पर दृष्टिपात करें तो उनके अन्दर हमें अपने दिव्य प्रियतम को देखना होगा; जब हम मनुष्यों और जीवों पर दृष्टि डालें तो उनके अन्दर हमें उन्हीं को देखना होगा और उनके साथ अपने सम्बन्ध में हमें यह देखना होगा कि हम उन्हीं के आकारों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं। जब जड़-जगत् की सीमा लाँघ कर हम अन्य स्तरों की सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त करें या उनसे सम्बन्ध स्थापित करें तब भी हमें उसी विचार या दृष्टि को अपने मनों के लिए सत्य बनाना होगा। हमारे इस मन के सामान्य स्वभाव को, जो केवल भौतिक एवं प्रत्यक्ष रूप तथा साधारण खण्डित सम्बन्ध के प्रति ही खुला है और अन्तःस्थ गुप्त देवाधिदेव की उपेक्षा करता है, सर्व-आलिंगी प्रेम और आनन्द के अविरत अभ्यास के द्वारा इस गभीरतर एवं विपुलतर बोध और इस महत्तर सम्बन्ध के प्रति नत होना होगा। सभी देवताओं में हमें इन्हीं एक ईश्वर को देखना होगा जिन्हें हम अपने हृदय और अपनी सम्पूर्ण सत्ता से पूजते हैं; वे उन्हीं की दिव्यता के आकार हैं। अपने आध्यात्मिक आलिंगन को इस प्रकार विस्तारित करते हुए हम एक ऐसे बिन्दु पर जा पहुँचते हैं जहाँ सब कुछ वही होते हैं और इस चेतना का आनन्द हमारे लिए संसार को देखने का हमारा सामान्य अविच्छिन्न तरीक़ा बन जाता है। इससे उनके साथ हमारे मिलन में बाह्य या वस्तुगत सार्वभौमता आ जाती है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ६०१-०२

प्रियतम की मूर्ति

आभ्यन्तरिक रूप में, प्रियतम की मूर्ति को हमारे अन्तर्नयन के लिए गोचर बनाना होगा। वे हमारे अन्दर ऐसे बस जायें कि अपने घर में, अपनी उपस्थिति की मधुरिमा से हमारे हृदयों को अनुप्राणित करें, सखा, स्वामी और प्रेमी के रूप में वे हमारी सत्ता के शिखर से हमारे मन-प्राण

की समस्त क्रियाओं को अधिशासित करें, ऊपर से वे हमें विश्व के अन्दर अपने साथ एकीभूत करें। सतत अन्तर्मिलन एक ऐसा हर्ष है जिसे घनिष्ठ, स्थायी और अचूक बनाना है। इस अन्तर्मिलन को असाधारण समीपता और उपासना के उस समय तक ही सीमित नहीं रखना है जब हम अपनी सामान्य व्यस्तताओं से विमुख होकर सर्वथा अपने अन्दर चले जाते हैं, न हमें अपने मानवीय कार्यों का त्याग करके ही इसका अनुसरण करना है। हमें अपने सभी विचारों, आवेगों, भावों और कार्यों को उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए उनके समक्ष प्रस्तुत करना होगा, अथवा यदि हम अभी इस बिन्दु तक नहीं पहुँच सकते तो हमें इन्हें अपनी अभीप्सा के यज्ञ में उनके प्रति अर्पित करना होगा, जिससे वे हमारे अन्दर अधिकाधिक अवतीर्ण होकर इन सबमें उपस्थित रह सकें और इन्हें अपने समस्त संकल्प और बल, प्रकाश और ज्ञान, प्रेम और आनन्द से परिव्याप्त कर सकें।

अन्त में, हमारे सभी विचार, भाव, आवेग और कर्म उन्हीं से निःसृत होंगे और किसी दिव्य बीज और रूप में परिवर्तित होने लगेंगे। अपनी सम्पूर्ण आन्तरिक सत्ता में हम अपने को उन्हीं की सत्ता के अंग के रूप में जान लेंगे और अन्ततोगत्वा हमारे उपास्य भगवान् की सत्ता और हमारे अपने जीवनों में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार सभी घटनाओं में भी हमें अपने साथ दिव्य प्रेमी के व्यवहारों को देखना और उनमें ऐसा आनन्द लेना होगा कि दुःख-ताप और शारीरिक पीड़ा तक उनकी देनें बन जायें, आनन्द में परिणत हो जायें और दिव्य सम्पर्क की अनुभूति से विनष्ट होकर अन्तिम रूप से आनन्द में विलीन हो जायें, क्योंकि उनके हाथों का स्पर्श चमत्कारी रूपान्तर का रसायनज्ञ है। कुछ लोग जीवन का इस कारण त्याग कर देते हैं कि यह दुःख और पीड़ा से कलुषित है, परन्तु प्रभु-प्रेमी के लिए दुःख-दर्द उनसे मिलन के साधन, एवं उनके दबाव के चिह्न बन जाते हैं और अन्त में, जैसे ही उनकी प्रकृति के साथ हमारा मिलन इतना पूर्ण हो जाता है कि वैश्व आनन्द के ये आवरण उसे छिपा ही नहीं सकते, वैसे ही ये दुःख-दर्द समाप्त हो जाते हैं। ये आनन्द में रूपान्तरित हो जाते हैं।

CWSA खण्ड २४, पृ. ६०२ **श्रीअरविन्द**

कर्मयोग

परम संकल्प-शक्ति के प्रति समर्पण

कर्म के मार्ग का उद्देश्य है, मनुष्य के प्रत्येक कर्म का सर्वोच्च संकल्प-शक्ति के प्रति समर्पण। इसका आरम्भ कर्म के समस्त अहंभावयुक्त उद्देश्य के त्याग से और स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की, किसी सांसारिक परिणाम की ख़ातिर किये गये कर्म के त्याग से होता है। इस त्याग के द्वारा वह मन और संकल्प-शक्ति को इतना शुद्ध कर लेता है कि हम सरलता से उस महान् वैश्व 'शक्ति' के प्रति सचेतन हो जाते हैं तथा उसे ही अपने समस्त कार्यों का सच्चा कर्ता मानने लगते हैं, साथ ही हम उस शक्ति के स्वामी को कर्मों का शासक और सञ्चालक भी मानते हैं जब कि व्यक्ति केवल ऊपरी आवरण या बहाना होता है, एक यन्त्र या, अधिक निश्चित रूप में कहें तो, कर्म और दृश्यमान सम्बन्ध का एक सचेतन केन्द्र मात्र होता है। कर्म का चुनाव और उसकी दिशा अधिकाधिक सचेतन रूप में इसी सर्वोच्च संकल्प-शक्ति और वैश्व 'शक्ति' पर छोड़ दिये जाते हैं। इसी को हमारे कर्म और हमारे कर्मों के परिणाम अन्त में समर्पित कर दिये जाते हैं। इसमें लक्ष्य यह होता है कि आत्मा बाह्य प्रतीतियों और दृश्यमान व्यापारों की प्रतिक्रियाओं के बन्धन से छूट जाये।

दूसरे मार्गों की तरह कर्मयोग का उपयोग भी दृश्यमान अस्तित्व से मुक्ति पाने और सर्वोच्च सत्ता में प्रवेश करने के लिए किया जाता है। किन्तु यहाँ भी एकांगी परिणाम अनिवार्य नहीं। इस मार्ग का अन्त भी समस्त शक्तियों में, समस्त घटनाओं और समस्त कार्यों में दिव्य सत्ता का बोध और वैश्व कर्म में आत्मा का स्वतन्त्र और निरभिमान सहयोग हो सकता है। यदि इसका इस प्रकार अनुसरण किया जाये तो इसका परिणाम यह होगा कि समस्त मानव-संकल्प-शक्ति और क्रिया दिव्य स्तर तक पहुँच जायेगी, आध्यात्मिक बन जायेगी तथा मानव-सत्ता में स्वतन्त्रता, शक्ति और पूर्णता के लिए किये गये प्रयास के औचित्य को सिद्ध कर देगी।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३९-४०

यही है योग

योगी उन सर्वव्यापी तथा सर्वसमर्थ प्रभु के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ लेता है जो मनुष्य के अन्दर और बाहर सर्वत्र विराजमान हैं। वह अनन्त के साथ सुर-ताल में एक होता है, वह जगत् में प्रभु की शक्ति की एक ऐसी वाहिका बन जाता है जिसके द्वारा—चाहे शान्त शुभचिन्ता के द्वारा या सक्रिय उपकारिता के द्वारा—वह स्वयं को जगत् पर पूरी तरह से उँडेल देता है। जब कोई मनुष्य अपने ऊपर से अहंकार की केंचुली हटा कर ऊपर उठ जाता है और दूसरों के लिए जीता है, उनकी ख़ुशियों और दुःखों को अपना लेता है, जब वह पूर्ण रूप से, प्रेम तथा उत्साह के साथ कार्य करता है, लेकिन फल प्राप्त करने की चिन्ता को दूर निकाल देता है और न विजय के लिए ललकता है, न ही पराजय से डरता है;—जब वह अपने सभी कर्म भगवान् को समर्पित कर देता है, और अपना प्रत्येक विचार, शब्द तथा कार्य समर्पण के रूप में भागवत वेदी पर चढ़ा देता है;—जब वह भय तथा घृणा, जुगुप्सा, विकर्षण और आसक्ति से पिण्ड छुड़ा लेता है और बिना जल्दी मचाये, बिना आराम किये, अथक और पूर्ण रूप से उस तरह क्रिया करता है जैसे प्रकृति की शक्तियाँ करती हैं;—जब वह इस विचार से ऊपर उठ जाता है कि वह शरीर है या वही हृदय, मन या इन सबका कुल योग है और अपनी स्वकीय तथा सच्ची आत्मा पा लेता है;—जब वह अपनी अमरता तथा मृत्यु की अवास्तविकता के प्रति अभिज्ञ हो जाता है;—जब वह ज्ञान के आगमन की अनुभूति पाता है और अपने-आप को निष्क्रिय बना लेता है तब भागवत शक्ति उसके मन, उसकी वाणी, उसकी इन्द्रियों तथा उसके सभी अवयवों द्वारा अबाध रूप से कार्य करती है;—जब इस तरह वह जो कुछ है, जो कुछ करता है उस सबको 'परमेश्वर', मानवजाति के 'प्रेमी' तथा 'सहायक' के हाथों में निश्शेषतः सौंप देता है, तब वह स्थायी रूप से 'उनमें' निवास करने लगता है और फिर वह शोक, चञ्चलता अथवा मिथ्या उत्तेजना का दास नहीं बना रहता—यही है योग। CWSA खण्ड १३, पृ. ११

स्मरण और समर्पण

हम दोहराते हैं कि यह मानना भूल है कि आध्यात्मिकता ऐसी चीज़

है जिसका जीवन से तलाक हो चुका है। "सब कुछ छोड़ दो" ईशोपनिषद् कहता है, "ताकि तुम सब कुछ का भोग कर सको, न किसी की सम्पत्ति पर ललचायी दृष्टि से देखो। बस इस जगत् में अपना कर्तव्य-कर्म करते चलो और सौ साल जीने की कामना रखो; अपने कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाने का और कोई रास्ता नहीं है।" यह मानना भूल है कि धर्म की ऊँचाइयाँ इस जगत् के संघर्षों से ऊपर हैं। श्रीकृष्ण का अर्जुन को निरन्तर यह कहना—"युद्ध करो और विरोधी को परास्त कर दो!" "मेरा स्मरण करो और युद्ध करो!"—"आध्यात्मिकता से भरे हृदय के साथ अपने सभी कर्म मुझे समर्पित कर दो, और लालसा से मुक्त, अपने स्वार्थी दावों से मुक्त, युद्ध करो! अपने स्व के ज्वर को अपने से निकाल दूर करो।"—यह सब निरन्तर संघर्ष करने का ही द्योतक है। यह मानना भी भूल है कि जब धार्मिक मनुष्य अपने सामान्य क्रिया-कलापों को नहीं छोड़ता, फिर भी वह बड़ा सात्त्विक, बड़ा धार्मिक, बहुत प्रेममय और जगत् के कठोर कार्यों के प्रति बहुत आवेशहीन बन जाता है। *गीता* के उत्तर से अधिक नितान्त और अटल और कुछ नहीं हो सकता, "अहंकार से मुक्त जिसका स्वभाव है, कर्म के दबाव द्वारा जिसकी अन्तरात्मा दुःख नहीं पाती, वह यदि सारे जगत् का संहार कर दे फिर भी वह हनन नहीं करता और न ही वह बद्ध होता है।" कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन के रथ के सारथी, जो उसे विनाश के क्षेत्र से लिये चले जा रहे हैं—यही है कर्मयोगी की छवि और उसकी व्याख्या; क्योंकि शरीर है रथ और इन्द्रियाँ हैं वे घोड़े जो शरीर को हाँके लिये जा रहे हैं और जगत् के रक्तरञ्जित और दलदली रास्तों से होते हुए श्रीकृष्ण ही मनुष्य की आत्मा को वैकुण्ठ तक ले जाने वाले सारथी हैं।
CWSA खण्ड १३, पृ. १२

निष्काम कर्म

कर्म के क्षेत्र में कामना अनेक रूप धारण करती है। उनमें सबसे अधिक प्रबल रूप है, अपने कर्मों के फल के लिए प्राणमय पुरुष की लालसा या उत्कण्ठा। जिस फल की हम लालसा करते हैं वह आन्तरिक सुखरूपी पुरस्कार हो सकता है; वह किसी पसन्दीदा विचार या किसी प्रिय संकल्प की पूर्ति या अहंकारमय भावों की तृप्ति, या अपनी उच्चतम आशाओं और

महत्त्वाकांक्षाओं की सफलता का गौरवरूपी पुरस्कार हो सकता है। अथवा वह एक बाह्य पारितोषिक हो सकता है, अर्थात्, एक ऐसा प्रतिफल जो सर्वथा स्थूल हो, जैसे धन, पद, प्रतिष्ठा, विजय, सौभाग्य अथवा प्राणिक या शारीरिक कामना की किसी और प्रकार की तृप्ति। परन्तु ये सब समान रूप से कुछ ऐसे फन्दे हैं जिनके द्वारा अहंभाव हमें बाँधता है। सदा ही ये सुख-सन्तोष हमारे अन्दर यह भाव और विचार पैदा करके कि हम स्वामी और स्वतन्त्र हैं, हमें छला करते हैं, जब कि वास्तव में अन्ध 'कामना' की कोई स्थूल या सूक्ष्म, भली या बुरी मूर्ति ही—जो जगत् को चलाती है,—हमें जोतती और हमें चलाती है अथवा हम पर सवार होती और हमें कोड़े लगाती है। इसीलिए *गीता* ने कर्म का जो सबसे पहला नियम बताया है वह है, फल की किसी भी प्रकार की कामना के बिना कर्तव्य-कर्म करना, अर्थात् *निष्काम कर्म* करना।

CWSA खण्ड २३, पृ. १०२

समता रखना और कामना का त्याग करना

गीता जिस कसौटी का उल्लेख करती है वह है, मन और हृदय की पूर्ण समता—सभी परिणामों के प्रति, सभी प्रतिक्रियाओं के प्रति, सभी घटनाओं के प्रति। यदि सौभाग्य और दुर्भाग्य, यदि मान और अपमान, यदि यश और अपयश, यदि जय और पराजय, यदि प्रिय घटना और अप्रिय घटना आयें और चली जायें, पर हम उनसे विचलित न हों, इतना ही नहीं, बल्कि वे हमें छू तक न सकें और हम भावों, स्नायविक प्रतिक्रियाओं एवं मानसिक दृष्टि में स्वतन्त्र बने रहें, प्रकृति के किसी भी भाग में ज़रा-सी भी चञ्चलता या हलचल के साथ प्रत्युत्तर न दें, तभी समझना चाहिये कि हमें वह पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी है जिसकी ओर *गीता* निर्देश करती है, अन्यथा नहीं। छोटी-से-छोटी प्रतिक्रिया भी इस बात का प्रमाण होती है कि हमारी साधना अभी अपूर्ण है, हमारी सत्ता का कोई भाग अज्ञान और बन्धन को अपने नियम के रूप में स्वीकार करता है और अभी तक पुरानी प्रकृति से चिपटा हुआ है।

*

एक अधिकाधिक ईश्वराभिमुख और अन्ततः ईश्वर-अधिकृत चेतना में

रहते हुए हमें समस्त कर्म करने ही होंगे; हमारे कर्म भगवान् के प्रति यज्ञ-रूप होने चाहियें, और अन्त में तो हमें सम्पूर्ण सत्ता को—मन, संकल्प-शक्ति, हृदय, इन्द्रिय, प्राण और शरीर, सबको—एकमेव के प्रति समर्पित कर देना चाहिये जिससे कि ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-सेवा ही हमारे कर्मों का एकमात्र प्रेरक भाव बन जाये। निःसन्देह, प्रेरक शक्ति का और कर्मों के स्वरूप तक का यह रूपान्तर ही *गीता* का प्रधान विचार है। कर्म, प्रेम और ज्ञान के गीताकृत अद्वितीय समन्वय का यही आधार है। अन्त में, कामना नहीं, बल्कि सनातन की प्रत्यक्षतः अनुभूत इच्छा ही हमारे कर्म की एकमात्र परिचालिका और इसके आरम्भ का एकमात्र उद्गम रह जाती है।

समता, अपने कर्मों के फल की समस्त कामना का त्याग, अपनी प्रकृति और समष्टि-प्रकृति के परम प्रभु के प्रति यज्ञ-रूप में कर्म करना —यही *गीता* की कर्मयोग-प्रणाली में ईश्वर-प्राप्ति के तीन प्रधान साधन हैं।
CWSA खण्ड २३, पृ. १०३, १०४

हमारा योग रूपान्तरण का योग है, लेकिन सम्पूर्ण चेतना का और समस्त प्रकृति का, ऊपर से लेकर नीचे तक, इसके छिपे हुए आन्तरिक भागों से लेकर इसकी स्पर्श-योग्य बाह्य गतियों तक का रूपान्तरण। यह न तो नैतिक परिवर्तन है और न ही धार्मिक परिवर्तन, न यह सन्तता है न ही वैराग्यपूर्ण अनुशासन, न यह मात्र उदात्तीकरण है, न ही जीवन या प्राणिक गतियों का दमन जैसा कि बहुत-से लोग मानते हैं, न यह महिमागान है न ही भौतिक अस्तित्व का त्याग अथवा उसका तिरस्करण। जिस पर ध्यान देना है वह है, कम से अधिकतर, निम्न से उच्चतर, सतही से गहनतर चेतना में परिवर्तन। वस्तुतः हमारा स्वप्न है, बृहत्तम, उच्चतम तथा गहनतम में प्रवेश करना, साथ ही सारी सत्ता का—उसके सभी तत्त्वों और द्रव्यों का अस्तित्व की उस भागवत प्रकृति में ब्योरेवार पूर्ण बदलाव और रूपान्तरण जो भागवत प्रकृति अभी तक पृथ्वी पर चरितार्थ नहीं हुई है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३७१ **श्रीअरविन्द**

तन्त्र-योग

दक्षिण-मार्ग तथा वाम-मार्ग

भारत में एक ऐसी विलक्षण यौगिक प्रणाली का विकास हुआ है जिसका स्वभाव समन्वयात्मक है और जो प्रकृति के महान् केन्द्रीय सिद्धान्त से, उसकी महान् सक्रिय शक्ति से शुरू होती है। लेकिन यह अपने-आपमें एक अलग ही योग-प्रणाली है, दूसरी प्रणालियों का समन्वय नहीं है। यह है तन्त्र-मार्ग। जो लोग तान्त्रिक नहीं हैं वे इस मार्ग को हेय दृष्टि से देखते हैं; विशेषकर इसकी वाममार्गी पद्धतियों को, क्योंकि ये पद्धतियाँ पाप और पुण्य के द्वन्द्व के परे जाने से नहीं हिचकतीं, यानी ये कभी-कभी नैतिकता के परे चली जाती हैं और कामना के उपभोग के असंयत पथ पर भी बढ़ जाती हैं। यह सब होते हुए भी तान्त्रिक प्रणाली अपने मूल में महान् और शक्तिशाली प्रणाली थी। यह कुछ ऐसे विचारों पर आधारित थी जिसमें आंशिक सत्य अवश्य था। तन्त्र के दो मार्ग—दक्षिण-मार्ग तथा वाम-मार्ग—दोनों ही एक गहन अनुभव से शुरू हुए। प्राचीन प्रतीकात्मक अर्थ के अनुसार दक्षिण-मार्ग था 'ज्ञान' का और वाम था 'आनन्द' का। 'ज्ञान' के मार्ग में प्रकृति मनुष्य के अन्दर अपनी शक्तियों और सामर्थ्यों को उँडेल कर क्रिया करती है और वह विवेकशील बना रहता है जब कि वाम अर्थात् 'आनन्द' के मार्ग में वह मनुष्य के अन्दर हर्ष उँडेल कर क्रिया करती है। ये दोनों ही मार्ग अपने मौलिक रूप में अन्य योग-प्रणालियों की तरह ही थे, लेकिन फिर इनमें कुछ विकार प्रकट हो गये; विशेषकर वाम-मार्ग के अनुगामियों में—उन्होंने 'आनन्द' को मुक्त कामना के हर्ष की ओर मोड़ दिया, अतः बाद में इनके प्रतीकों का ह्रास हो गया और इनके सिद्धान्तों में गिरावट आ गयी।

शक्ति की पूजा

पर यदि हम यहाँ भी वर्तमान प्रणालियों और अभ्यासों को एक ओर रख कर केन्द्रीय सिद्धान्त की खोज करें तो हमें सबसे पहले यही पता लगेगा कि 'तन्त्र' 'योग' की वैदिक प्रणालियों से स्पष्ट रूप में भिन्न है। एक अर्थ में तो वे सब मत, जिनका हमने अब तक निरीक्षण किया है, अपने

सिद्धान्त में वैदान्तिक हैं; उनकी शक्ति ज्ञान में है, उनकी प्रणाली भी ज्ञान है, यद्यपि यह सदा ही बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं होता, या यह उसके स्थान पर हृदय का एक ऐसा ज्ञान हो सकता है जो प्रेम और विश्वास में अभिव्यक्त होता है, या यह संकल्प में स्थित एक ऐसा ज्ञान भी हो सकता है जो कर्म द्वारा चरितार्थ होता है, पर सबमें योग का स्वामी 'पुरुष' ही है, वह एक सचेतन आत्मा है जो जानती है, निरीक्षण करती है, आकर्षित एवं शासित करती है। किन्तु तन्त्र में प्रकृति ही स्वामिनी होती है, वह 'प्रकृति-आत्मा' अर्थात् शक्ति होती है, यह वस्तुतः विश्व में कार्य करने वाला शक्तिगत संकल्प होता है। इस संकल्प के अन्तरंग रहस्यों को, इसकी प्रणाली और इसके तन्त्र को सीख कर तथा इनका प्रयोग करके ही तान्त्रिक योगी ने अपनी अनुशासन-सम्बन्धी क्रियाओं के उद्देश्यों, अर्थात् स्वामित्व, पूर्णता, मुक्ति और आनन्द को प्राप्त करना चाहा था। अभिव्यक्त 'प्रकृति' और उसकी कठिनाइयों से पीछे हटने के स्थान पर उसने उनका सामना किया था, उन्हें प्राप्त एवं अधिकृत कर लिया था। किन्तु अन्त में, जैसा कि प्रकृति का स्वभाव होता है, तान्त्रिक योग अपनी जटिल यान्त्रिक क्रिया में अपने मूल सिद्धान्त को अधिकतर खो बैठा और उन सूत्रों और गुह्य यान्त्रिक प्रक्रियाओं की वस्तु बन गया जो ठीक प्रकार प्रयुक्त होने से अभी भी फलप्रद तो होती थीं, पर अपने मूल उद्देश्य की स्पष्टता से च्युत हो गयी थीं।

CWSA खण्ड २३, पृ. ४२-४३

तपस् की अन्तिम सम्भाव्य सर्वशक्तिमत्ता तथा सत्य-विचार (Idea) की अमोघ सिद्धि समस्त योग की सच्ची आधारशिला हैं। मनुष्य में हम इन शब्दों को संकल्प तथा श्रद्धा द्वारा व्यक्त करते हैं—एक ऐसा संकल्प जो अन्तिम रूप से आत्म-प्रभावी हो क्योंकि यह ज्ञान के उपादान से बना है तथा एक ऐसी श्रद्धा जो निम्न चेतना में एक ऐसे सत्य अथवा सत्य-विचार का प्रतिबिम्ब है जो अभी तक अभिव्यक्ति में चरितार्थ नहीं हुआ है। सत्य-विचार की यही आत्म-निश्चिति गीता के इस कथन—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः" में व्यक्त हुआ है—जो भी मनुष्य की श्रद्धा अथवा उसमें निश्चित सत्य-विचार हो, वही वह बन जाता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ४४ **श्रीअरविन्द**

पूर्णयोग की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

जब उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर पूर्ण रूप में क्रिया करती है तब उसकी क्रिया की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ देखने में आती हैं। पहले यह कि वह एक स्थिर प्रणाली या क्रम के अनुसार कार्य नहीं करती जैसा कि योग की विशेष प्रणालियों में होता है। वह अपना कार्य एक प्रकार की स्वतन्त्र, विस्तृत लेकिन उत्तरोत्तर प्रभावशाली और उद्देश्यपूर्ण क्रिया के द्वारा करती है जो उस व्यक्ति के स्वभाव के द्वारा निर्धारित होती है जिसमें वह कार्य करती है। उसका निर्धारण उन सहायक साधनों के द्वारा भी होता है जिन्हें व्यक्ति का स्वभाव प्रस्तुत करता है तथा उन बाधाओं के द्वारा भी जो वह पवित्रीकरण और पूर्णता के रास्ते में खड़ी करता है। इसलिए, एक प्रकार से इस मार्ग में प्रत्येक मनुष्य की योग-सम्बन्धी अपनी प्रणाली है।...

दूसरी यह कि चूँकि उच्च प्रकृति की प्रक्रिया सर्वांगीण है, अतः वह हमारी प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार कर लेती है जिस रूप में वह हमारे पूर्व विकास के द्वारा संगठित हो चुकी है और फिर वह किसी भी मूल वस्तु को अस्वीकार किये बिना सभी कुछ को दिव्य तत्त्व में रूपान्तरित होने को बाध्य करती है। हमारे अन्दर की प्रत्येक वस्तु को एक शक्तिशाली शिल्पी अपने हाथ में लेता है और उसे एक ऐसी वस्तु की स्पष्ट प्रतिमूर्ति में रूपान्तरित कर देता है जिसे वह आज एक अव्यवस्थित ढंग से प्रकट करने की चेष्टा करती है। उस सदा-विकसनशील अनुभव में हम यह देखना प्रारम्भ कर देते हैं कि यह निम्न अभिव्यक्त जगत् किस प्रकार निर्मित हुआ है और इसके अन्दर की सब चीज़ें, चाहे वे देखने में कितनी भी विकृत, तुच्छ या हीन क्यों न लगें, दिव्य 'प्रकृति' के समन्वय में किसी तत्त्व या क्रिया की ही थोड़ी-बहुत विकृत या अपूर्ण आकृति हैं।...

तीसरी यह है कि हमारे अन्दर की दिव्य 'शक्ति' समस्त जीवन का इस पूर्ण 'योग' के साधन के रूप में प्रयोग करती है। जगत् की परिस्थितियों के साथ हमारा प्रत्येक बाहरी सम्पर्क, उसके विषय का हमारा प्रत्येक अनुभव, चाहे वह कितना भी तुच्छ या कष्टपूर्ण क्यों न हो, इस कार्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है, और प्रत्येक आन्तरिक अनुभव, यहाँ तक कि अत्यधिक अप्रिय कष्ट या अत्यधिक दीनतापूर्ण पतन भी पूर्णता के रास्ते पर आगे ले जाने का एक क़दम बन जाता है। तब हम संसार में प्रयुक्त

भगवान् के तरीक़े को अपने अन्दर प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। हम अन्धकार में प्रकाश-सम्बन्धी उनके उद्देश्य को, दुर्बलों और पतितों में शक्ति-सम्बन्धी और दु:खियों और पीड़ितों में आनन्द-सम्बन्धी उनके उद्देश्य को देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि निम्न और उच्च दोनों प्रक्रियाओं में एक ही दिव्य प्रणाली का प्रयोग होता है। भेद केवल इतना होता है कि एक में उसका अनुसरण धीमे-धीमे और अस्पष्ट रूप में, प्रकृति में अवचेतन सत्ता के द्वारा किया जाता है, जब कि दूसरी में वह द्रुत गति से और सचेतन सत्ता के द्वारा कार्य करती है और तब मानव यन्त्र यह जानता है कि इसमें प्रभु का हाथ है। समस्त जीवन ही 'प्रकृति' का 'योग' है और अपने अन्दर भगवान् की अभिव्यक्ति करना चाहता है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ४६-४७

योग आरम्भ कैसे करें?

तुम्हारे लिए घर और अपने कार्य के बीच साधना करना बिलकुल सम्भव है—बहुतेरे इस तरह करते हैं। आरम्भ में आवश्यकता है—

— श्रीमाँ का अधिकाधिक स्मरण करो,

— प्रत्येक दिन नियत समय पर अपने हृदय में उन पर एकाग्र होओ,

— अगर सम्भव हो तो उनकी कल्पना दिव्य माँ की भाँति करो,

— अपने अन्दर उन्हें अनुभव करने की अभीप्सा करो,

— अपने कर्मों को उन्हें समर्पित कर दो और

— प्रार्थना करो कि अन्दर से वे तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सकती और तुम्हारी रक्षा कर सकती हैं।

यह एक प्रारम्भिक अवस्था है जिसे चरितार्थ करने में प्रायः बहुत समय लगता है, लेकिन अगर साधक इस पथ पर सच्ची निष्कपटता और दृढ़ता के साथ चलता रहे तो धीरे-धीरे उसकी मानसिकता बदलने लगती है और उसके अन्दर एक नयी चेतना प्रकट हो जाती है जो अपने अन्दर श्रीमाँ की उपस्थिति के प्रति, अपनी प्रकृति और अपने जीवन में उनकी क्रिया के प्रति अधिकाधिक अभिज्ञ होने लगती है या फिर उनकी क्रिया ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करती है जो उपलब्धि की ओर द्वार खोल देती है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. १८६ **श्रीअरविन्द**

'पुरोधा'

दैनन्दिनी

मई

१. धीरता और सहनशीलता जितनी अधिक होंगी, भागवत शक्ति और भागवत प्रेम उतने ही अधिक हमारे साथ होंगे और विजय का आनन्द भी उतना ही अधिक होगा।

२. सामान्यतया भय ही रोगों के प्रति द्वार खोलता है।

३. शुभचिन्तक बनो और तुम सब कष्टों से मुक्ति पा लोगे, सदा सन्तुष्ट और प्रसन्न रहो और तुम अपनी शान्त प्रसन्नता को चारों ओर फैला दोगे।

४. रुग्णावस्था में भागवत शान्ति को नीचे उतारने की कोशिश करना न भूलो। क्योंकि कोई भी बीमारी प्रभु की शान्ति का प्रतिरोध नहीं कर सकती, यहाँ तक कि स्मरण करने और कोशिश करने से भी आराम मिलता है।

५. पीड़ा हमारी माँ का स्पर्श है, जिसके द्वारा वे हमें सिखाती हैं कि कैसे सहा जाये और आनन्द में विकास किया जाये। उनके इस प्रशिक्षण की तीन अवस्थाएँ हैं : पहली है सहनशीलता, दूसरी, आत्मिक समता और अन्तिम है आत्मानन्द। —श्रीअरविन्द

६. हमारी अन्तरस्थ आत्मा ही एकमात्र सर्वसमर्थ चिकित्सक है और उसके प्रति शरीर का समर्पण ही एकमात्र सच्ची रामबाण औषधि है। —श्रीअरविन्द

७. सत्य है परम समस्वरता और परम आनन्द।

८. सब प्रकार की अव्यवस्था और सब दुःख-कष्ट 'असत्य' हैं।

९. दवाइयाँ रोगी को इतना ठीक नहीं करतीं जितना रोगी का चिकित्सक या दवाई में विश्वास। अपनी आत्म-शक्ति में व्यक्ति का जो सहज श्रद्धा-विश्वास होता है, उसके ये दोनों भद्दे स्थानापन्न हैं और इन्होंने ही स्वयं उस विश्वास को नष्ट कर डाला है।

१०. किसी को उसके धन के कारण ऊँचा न समझो, और न उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव का अपने ऊपर असर होने दो।

११. जब तक ग़रीब तुम्हारे साथ हैं तब तक उनकी सहायता करो; परन्तु कोशिश करो कि तुम्हारी सहायता पाने के लिए ग़रीब न रहें।

१२. नींद शरीर के लिए उसी तरह ज़रूरी है जैसे भोजन। काफ़ी नींद लेनी चाहिये पर बहुत अधिक नहीं। काफ़ी नींद क्या है, यह शरीर की आवश्यकता पर निर्भर होता है।

१३. भगवान् की उपस्थिति में निरन्तर निवास करो; इस बोध के अन्दर निवास करो कि यह भागवत उपस्थिति ही वह चीज़ है जो तुम्हें चलाती और तुमसे सब काम कराती है।

१४. कोई महत्त्वाकांक्षा, कोई मिथ्याभिमान, कोई दम्भ मत रखो। सच्चे आत्मदान, सच्ची विनम्रता का भाव बनाये रखो और फिर तुम सभी बाधा-विपत्तियों से सुरक्षित रहोगे।

१५. तूफ़ान में शान्ति, प्रयास में अचञ्चलता, समर्पण में आनन्द, आलोकमय श्रद्धा और तुम प्रभु की सतत उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ हो जाओगे।

१६. डर छिपी हुई स्वीकृति है। जब तुम किसी चीज़ से डरते हो तो इसका अर्थ यह है कि तुम उसकी सम्भावना को स्वीकार करते हो और इस तरह उसके हाथ मज़बूत करते हो। यह कहा जा सकता है कि यह अवचेतन स्वीकृति है।

१७. जो **शुद्ध** हैं, यानी ऐकान्तिक रूप से भागवत प्रभाव में हैं, उन्हें कोई डर नहीं होता।

१८. डर की कोई चीज़ ही नहीं है, सब कुछ प्रभु है। प्रभु के सिवा कुछ है ही नहीं। केवल प्रभु का ही अस्तित्व है और जो कुछ हमें डराने की कोशिश करता है वह प्रभु का मूर्खतापूर्ण और निरर्थक मुखौटा है।

१९. मानव-जीवन के सबसे बड़े अभिशापों में से एक है अवसाद; तमस्, दुःख और निष्क्रियता इसके संगी-साथी हैं। इन सब पर विजय पाने का एक उपाय है, आन्तरिक शान्ति को पाना।

२०. ख़ुश रहने की कोशिश करो तो तुम तुरन्त भागवत प्रकाश के नज़दीक होओगे।

२१. ... हर बार जब तुम दुःखी होते हो तो यह जगत् के सामूहिक दुःख में एक और दुःख की वृद्धि होती है।

२२. जब तक तुम आनन्द में—सतत, निश्चल, शान्त, प्रकाशमान, अपरिवर्तनशील आनन्द में नहीं रह पाते, तो उसका मतलब होता है कि अभी तुम्हें अपने-आपको शुद्ध करने के लिए और भी काम करना है।...

२३. जो भूतकाल में हो चुका है उसके लिए पछताओ मत, और क्या होगा उसकी कल्पना न करो।

२४. जहाँ तक हो सके अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छा से आशावादी बनो।

२५. मैं हमेशा ऊपर की ओर देखती हूँ। सुन्दरता, शान्ति और प्रकाश वहाँ हैं और वे हमेशा नीचे आने के लिए तैयार रहते हैं। तो हमेशा अभीप्सा करो और ऊपर देखो ताकि उन चीज़ों को यहाँ नीचे धरती पर अभिव्यक्त कर सको।

२६. धरती की कुरूप चीज़ों की ओर नज़र न डालो। जब कभी तुम्हें दुःख का अनुभव हो तो हमेशा मेरे साथ ऊपर देखो।

२७. अगर तुम अन्दर से शान्ति की माँग करो तो वह आयेगी।

२८. शान्ति और निश्चल-नीरवता में तुम सतत भागवत उपस्थिति के बारे में अधिकाधिक सचेतन हो जाओगे।

२९. सुखी और शान्त होने का सबसे अच्छा उपाय है हमेशा गहराई और तीव्रता के साथ भगवान् के प्रति पूर्ण कृतज्ञता का अनुभव करना।

३०. पृथ्वी पर कठिन घड़ियाँ आती हैं ताकि मनुष्यों को अपने छोटे-से निजी अहंकार पर विजय पाने और सहायता तथा प्रकाश के लिए ऐकान्तिक रूप से भगवान् की ओर मुड़ने के लिए बाधित करें।

३१. अहंकार ही औरों के अन्दर अहंकार देख कर आघात पाता है।
जो कुछ होता है वह हमें एक, और वह-का-वही पाठ पढ़ाने के लिए होता है : जब तक कि हम अपने अहंकार से पिण्ड न छुड़ा लें तब तक न तो हमारे लिए और न औरों के लिए शान्ति हो सकती है। और अहंकार के बिना जीवन एक अद्‌भुत चमत्कार बन जाता है!...

*

हमारे मन को नीरव और शान्त होना चाहिये, परन्तु हमारे हृदय को तीव्र अभीप्सा से भरा होना चाहिये। —श्रीमाँ

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

प्राणिक लोक के बारे में

हम भगवान् से शुरू करने की जगह शरीर से शुरू करते हैं। माताजी और श्रीअरविन्द के कथनानुसार हमारे शरीर का हर बिन्दु किसी आन्तरिक स्तर का प्रतिनिधि है। अगर हम उस बिन्दु को केवल कुण्डलिनी में ही नहीं, शरीर के अन्य भागों में भी खोल सकें तो हम उस आन्तरिक स्तर के साथ सम्पर्क कर पाते हैं। तो उनके अनुसार अण्ड ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि है, मनुष्य सीमित ढंग से अनन्त के प्रत्येक पहलू का प्रतिनिधि है। आत्मा, चैत्य, मन, प्राण, शरीर, इन स्तरों की खिड़कियाँ हैं और वे उन्हें व्यक्तिगत रूप देते हैं। जैसा कि मैंने कहा, हम मनुष्य से शुरू करेंगे और जैसे-जैसे ज्ञात से अज्ञात की ओर जायेंगे वैसे-वैसे प्राचीन पद्धति को समझना ज़्यादा आसान होता जायेगा।

पहली चीज़ तो यह जाननी ज़रूरी है कि शरीर आधार है। भौतिक शरीर के कारण ही सभी आन्तरिक स्तर एक बिन्दु पर केन्द्रित किये जा सकते हैं। भौतिक शरीर के साथ एक सूक्ष्म शरीर भी होता है जो अधिक सूक्ष्म होता है; वह दीवार में से भी गुज़र सकता है। भौतिक स्तर पर अधिकतर चक्र खुले नहीं होते। सभी केन्द्रों के खुलने के लिए एक नये प्रकार का शरीर चाहिये जिसमें सभी चक्र, शरीर के सभी कोषाणु तक खुले हों।

हाँ, तो, पार्थिव और प्राणिक स्तरों के बीच एक सूक्ष्म भौतिक स्तर होता है। जो भी चीज़ पार्थिव स्तर में अनूदित होती है वह पहले सूक्ष्म-भौतिक स्तर में रूप लेती है। पार्थिव और सूक्ष्म-पार्थिव का रंग गहरा लाल होता है।

प्राणिक स्तर का रंग, यदि प्राण शुद्ध हो तो शुद्ध लाल होता है। प्राणमय लोक का अपना देश, काल और आकार होता है। प्राणमय लोक में हम अष्टभुजा दुर्गा, सहस्रभुजा काली देखते हैं। माताजी और श्रीअरविन्द के अनुसार इन देवियों का अधिमानस या अतिमानस में ऐसा रूप नहीं होता। प्रायः ये रूप प्राणमय लोक के होते हैं। अधिमानस में काली के केवल दो हाथ होते हैं। वहाँ वे काले रंग की बिलकुल नहीं होतीं, केवल लाल भी नहीं, बल्कि सुनहरी लाल होती हैं। प्राणमय लोक में ऐसी सत्ताएँ

भी हैं जिनके सिर नहीं होते और जिनसे आग निकलती है। हम यक्ष, किन्नर, भूत, पिशाच, प्रेत और ऐसी ही अनेकानेक सत्ताओं की बात करते हैं। जैसा कि मैंने कहा, श्रीअरविन्द ने हमेशा उसी नामावली का उपयोग नहीं किया है, लेकिन हम अपने समझने के लिए कुछ समानता पाने की कोशिश कर सकते हैं।

प्राणमय लोक में कई पक्ष होते हैं, जैसे बाहरी प्राण और भीतरी प्राण, निम्न प्राण और उच्चतर प्राण। एक प्राणमय पुरुष होता है जो हमारे व्यष्टिगत व्यक्तित्व का भाग होता है। हर व्यक्ति का प्राणमय पुरुष भिन्न होता है। आत्मा के स्तर पर सब एक ही होते हैं पर चैत्य स्तर, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक स्तरों पर भिन्नताएँ होती हैं। अतः, सब लोगों का प्राणमय पुरुष एक-सा नहीं होता।

प्राणमय लोक आवेशों, भावनाओं, सहज वृत्तियों का आसन होता है। जब कोई माँ अपने बच्चे को देखती है तो बहुत ख़ुश होती है। पार्थिव शरीर केवल ख़ुशी को प्रकट करता है परन्तु सचमुच प्राणमय पुरुष ख़ुशी का, आनन्द का अनुभव करता है। मानसिक शरीर में वह विचार का रूप धारण कर लेता है। क्या मैं अपने बालक को एक उपहार दूँ? कोई खाने की चीज़ क्यों न दे दूँ? परन्तु इस भावना के पीछे कौन-सा मानसिक विचार होता है? विचार पहले आ सकता है फिर भावना आ सकती है या पहले भावना और उसके बाद विचार आ सकता है। इसमें कोई कड़ा नियम नहीं है।

प्राण में भी शुभ भावनाएँ, संसार को बदलने के लिए बड़े भाव, बलिदान की भावनाएँ आ सकती हैं। ये सब प्राणमय लोक की चीज़ें हैं और माताजी ने कहा है कि प्राणिक शक्ति के बिना कोई भी बड़ा काम नहीं हो सकता।

सभी सहज वृत्तियाँ, भावनाएँ सामान्य वातावरण में फैले हुए स्पन्दनों से आती हैं। स्पन्दन दो तरह के होते हैं, कुछ सीधे और कुछ गोलाकार। मुझे प्राचीन योग की कुछ पुस्तकों में यह पढ़ कर आश्चर्य हुआ था क्योंकि वहाँ इनका इस तरह से वर्णन किया गया था, फिर मैंने देखा कि श्रीअरविन्द ने भी कुछ-कुछ ऐसा ही वर्णन किया है। वे हमारे प्राण और सूक्ष्म शरीर को अमुक बिन्दुओं पर छूते हैं। किसी स्पन्दन का उसके मूल तक जाकर अध्ययन करने से हम यह जान सकते हैं कि वह कहाँ से आया है और

उसका स्वभाव क्या है?

ये स्पन्दन या उनमें से अधिकतर (यहाँ मैं विचारों के स्पन्दन की बात नहीं कह रहा) प्राणमय लोक में प्रवेश करते हैं और हमारे अन्दर भाव या भावना बन जाते हैं। अगर किसी व्यक्ति को तुमसे घृणा है और वह तुम्हारे बारे में सोचता है तो तुम्हारे अन्दर घृणा का स्पन्दन या प्रतिक्रिया आती है। इसी तरह अगर तुम किसी के बारे में घृणा के विचार से सोचते हो और अगर वह घृणा के स्पन्दन पकड़ लेता है तो तुम कहते हो, "ओह, यह व्यक्ति मुझसे घृणा करता है।" सच्ची बात यह नहीं है कि वह तुमसे घृणा करता है, सचमुच तो तुम उससे घृणा करते हो। तो एक बार तुम आन्तरिक स्तरों के बारे में जान जाओ तो इससे तुम्हें अपनी चेतना को शुद्ध करने में सहायता मिलती है।

विभिन्न स्तरों का ज्ञान ज़रूरी है। जब कुछ बच्चे बुरा व्यवहार करते हैं तो उनकी माताएँ उन्हें डाँटती हैं, "मैं आज तुम्हें खाना नहीं दूँगी।" या शरारत करने पर उन पर हाथ उठाती हैं। माताजी कहती हैं कि यह अजीब बात है। दोष है प्राण का और तुम बच्चे के भौतिक शरीर को दण्ड देते हो! यह ठीक उपाय नहीं है। तुम्हें जानना यह चाहिये कि शारीरिक दण्ड दिये बिना बच्चे के प्राण को कैसे सुधारा जाये और उसकी अतिरिक्त ऊर्जा को कैसे वश में रखा जाये।

(क्रमशः)

—नवजातजी

आदर्श

पर्वत कहता शीश उठा कर
तुम भी ऊँचे बन जाओ
सागर कहता है लहरा कर
मन में गहराई लाओ
धरती कहती धैर्य न छोड़ो
कितना ही हो सिर पर भार
नभ कहता है फैलो इतना
ढँक लो तुम सारा संसार।

—श्री सोहनलाल द्विवेदी

आत्मा की उपस्थिति

आचार्य प्रवर ने अपने समस्त स्नातकों को एकत्रित किया और बोले, "वस्तगण! आप सब जानते हैं कि मेरी कन्या विवाह-योग्य हो चुकी है, मेरे पास धन का अभाव है। आप लोग अपने घरों में जायें और एक-एक आभूषण मेरी कन्या के लिए ले आयें, जो सर्वश्रेष्ठ आभूषण लायेगा, उसी के साथ हम अपनी कन्या का विवाह कर देंगे। किन्तु यह बात गुप्त रहनी चाहिये, माता-पिता तो क्या यदि दाहिना हाथ आभूषण लाये तो बायें हाथ तक को भी पता न चले।"

द्रुमत उपकौशलाचार्य की कन्या असाधारण विदुषी, सुशीला और सौन्दर्यवती थी। स्नातक आतुरतापूर्वक अपने-अपने घरों को गये और आभूषण चुरा-चुरा कर लाने लगे। जो भी स्नातक कैसा भी आभूषण लाता, आचार्य उसे उसके नाम के सामने लिख कर एक ओर सुरक्षित रख देते। कुछ ही दिनों में आभूषणों के अम्बार लग गये, पर जिस आभूषण की खोज थी आचार्य प्रवर को, वह अभी तक लाकर कोई न दे सका।

वाराणसी के राजकुमार ब्रह्मदत्त सबके बाद लौटे, निराश और ख़ाली हाथ। उत्सुकतापूर्वक आचार्य ने पूछा, "वत्स! तुम कुछ नहीं लाये?" "जी हाँ गुरुदेव! क्योंकि आपने कहा था कि आभूषण इस तरह लाया जाये कि कोई देख भी न पाये, वह शर्त पूरी करना असम्भव है क्योंकि मैंने बहुत उपाय किये, फिर भी एकान्त तो मिल ही नहीं पाया।"

"क्या तुम्हारे माता-पिता और अन्य कुटुम्बीजन सोते नहीं? रात में निकाल लेते आभूषण?" आचार्य ने विस्मय दृष्टि डालते हुए पूछा। ब्रह्मदत्त ने उत्तर दिया, "तात! मनुष्यों से सूनापन मिल सकना सरल है, पर वहाँ मेरे अतिरिक्त मेरी आत्मा, सर्वव्यापी परमात्मा की उपस्थिति तो टाली नहीं जा सकती थी, फिर आपकी शर्त कैसे पूरी होती?"

आचार्य की आँखें चमक उठीं, वे जो आभूषण चाहते थे उन्हें मिल गया। ब्रह्मदत्त को उन्होंने हृदय से लगा लिया। सभी के आभूषण लौटा दिये उन्होंने और कन्या के पाणिग्रहण की तैयारी में जुट गये।

—अज्ञात

देखना, तारा कहीं उड़ न जाये...

एक था कीड़ा!

कभी इधर दौड़ता, कभी उधर भागता। सब कुछ कितना नया था उसके लिए, हर चीज़ में आकर्षण, हर चीज़ निराली!

*

उफ़! कितने बड़े-बड़े प्राणी थे!

एक दिन ज़मीन धमधमाने लगी। बेचारा कीड़ा जान बचा कर भागा। अभी एक पेड़ के तने पर पाँव जमा ही पाया था कि उसने देखा बादल... ना, ना, बादल के जैसा विशालकाय प्राणी धमधमाता हुआ पेड़ के पास आ रुका। कीड़े की धुकधुकी रुकने-रुकने को हुई। आगन्तुक ने इधर-उधर देखे बिना पेड़ की शाखाएँ तोड़नी शुरू कर दीं। पेड़ बड़ी नम्रता से बोला, "महाराज! मेरे पत्ते आप ही के लिए हैं। इतनी दया कीजिये कि मेरा तना न टूटने पाये। तना टूट गया तो मैं आपकी सेवा न कर पाऊँगा।"

हाथी ने न जाने सुना या नहीं सुना, वह दो-चार शाखाएँ तोड़ कर ही चलता बना। कीड़े की काली-काली आँखें इस बलवान् प्राणी को देख कर आश्चर्य और भय से गोल हो गयी थीं।

उसने डरते-डरते फुसफुसा कर पूछा, "वह कौन था?"

पेड़ ने अपनी शाखा झुका कर नन्हें कीड़े को देखा, पत्तों के दाँत मुस्कुराये और पेड़ वात्सल्य से बोला, "ओह, तुम हो! अभी-अभी जन्मे हो न, इसलिए डर गये। मनुष्य नामक प्राणी इन्हें हाथी कहता है, हमारे जंगल के राजा हैं।"

कीड़ा बुद्धिमत्ता दिखाता हुआ, सिर हिला कर बोला, "तभी इतने बलशाली हैं। वे चलते हैं तो ज़मीन हिलने लगती है। मैंने सोचा, लो, अब गये कि तब गये, झटपट आपकी शरण में आ गया।"

पेड़ के पत्ते कीड़े को सहलाते हुए बोले, "यूँ डरने की कोई बात नहीं है। हमारे महाराज इतने शक्तिशाली होते हुए भी दयामय हैं। शेर की तरह जानवरों को नहीं खाते। छोटे प्राणियों पर हमेशा दयादृष्टि रखते हैं।"

छोटा कीड़ा हाथी की कृपा की बात सुन कर प्रसन्न हो गया। रात-भर हाथी के ही सपने देखता रहा।

सवेरा होते-न-होते हलकी ठण्डी हवा का एक झोंका-सा उसे छू गया। कीड़े ने अलसाई आँखें खोलीं। यह क्या? उसने दो-तीन बार पलकें झपकायीं। वाह! वाह! कैसा अद्‌भुत प्राणी है! उसकी पीठ पर कोई सतरंगा प्राणी बैठा मुँह पोंछ रहा था। कीड़े ने पूछा, "कल हमने हाथी महाराज को देखा था, आज उनसे एकदम उलटा प्राणी दिख रहा है। मैं तो समझा कि हवा मुझे गुदगुदा रही है, लेकिन आँखें खोलीं तो देखा यह है। कितना सुन्दर है!"

पेड़ झूमता हुआ बोला, "हाँ, यह महाराज जैसा तो क्या, उनकी पूँछ बराबर भी नहीं है।"

इतने में कीड़ा बोला, "उसकी पीठ पर यह ऊपर-नीचे हिलती चीज़ क्या है?"

अचानक छोटा-सा प्राणी मुस्कुराया और बोला, "पंख! क्या तू अभी-अभी आया है?"

नये प्राणी की महीन आवाज़ सुन कर कीड़ा ख़ुश हो गया। सोचा, "छोटे का सब कुछ छोटा!"

नया प्राणी बोला, "आदमी मुझे तितली कहता है। वह कहता है, मैं बहुत सुन्दर हूँ। पर, भइया, मेरे जैसा दुःखी प्राणी और कौन होगा? जब देखो डर! काँटों से डर, गिरगिट से डर, कितने डर गिनाऊँ? ज़िन्दगी भी बस दो दिन की!" और फिर इतना कह कर तितली उड़ गयी। कीड़ा कामना करने लगा कि उसके भी ऐसे ही रंग-बिरंगे पंख उग आयें।

उसने चारों ओर देखा, सब प्राणी कुछ-न-कुछ करते थे, बस वही निकम्मा, निठल्ला बैठा औरों को ताकता रहता था। उसने सोचा, "पेड़ सबको सहारा देता है, सबकी रक्षा करता है और फल देता है। महाराज हाथी ताक़तवर हैं, छोटे प्राणियों की मदद करते हैं, कभी किसी को मारते नहीं। चींटी का कहना ही क्या? ज़रा-सी जान, पर अपने भार से दस गुनी चीज़ें ढोती-फिरती है, कितना दाना-पानी इकट्ठा करती है अपनी बिरादरी के लिए! रह गया मैं! मैं किसी की न सेवा कर पाता हूँ, न टहल। मुझमें न ताक़त है न रूप। अरे, मेहनत करने की शक्ति भी तो नहीं। बस, अब निश्चय कर लिया, मैं तितली से पंख लेकर रहूँगा। लूँगा ज़रूर। पर कैसे?"

इतने में विचित्र आवाज़ें सुनायी दीं। कीड़ा झट पेड़ पर चढ़ गया।

काँपती आवाज़ में बोला, "पेड़ दादा, यह कोलाहल कैसा है?"

पेड़ ने उचक कर देखा, बोला, "ओह! मानवजाति का पौधा आया है। एक नहीं, बहुत सारे हैं। ... बेटा, ये कभी-कभी यहाँ घूमने आया करते हैं। बहुत हो-हल्ला करते हैं। शायद इनके माता-पिता इन्हें कुछ सिखाते नहीं। जब देखो बक-बक किये जाते हैं। इनसे ज़रा सावधान रहना। पता नहीं कब क्या करें! ये कभी बहुत अच्छे होते हैं, कभी एकदम शैतान, बवण्डर को भी मात कर दें! ये हमारे जैसे थोड़े ही हैं? हाथी का बच्चा मज़बूत, भारी, दयालु होगा, सब जानते हैं, लेकिन आदमी का बच्चा कैसा होगा कहना मुश्किल है। ऊपर चढ़ आओ।" कीड़ा और ऊपर चढ़ गया।

कीड़ा उन लोगों की बातें सुन सकता था। वे इसी ओर आ रहे थे। एक बालक बोला, "भई, मेरे पिताजी कहते थे, तपस्या से सब कुछ मिल सकता है।"

दूसरा हँसा, बोला, "एकदम बकवास! कुछ चीज़ें मिल ही नहीं सकतीं। मैं अगर पंखों के लिए तपस्या करूँ तो क्या मेरे पंख निकल आयेंगे? क्या मैं उड़ सकूँगा?"

तीसरा बालक बोला, "हाँ, मेरा विचार है, यह सम्भव तो है, लेकिन तुम इतनी तपस्या न कर सकोगे।"

पहला बोला, "अरे, छोड़ो इन बातों को। चलो, उस तितली को पकड़ें।"

सब उस ओर दौड़ पड़े। कीड़ा सिर उठा-उठा कर देखने लगा। उसने सन्तोष की साँस ली जब तितली उड़ कर पेड़ की फुनगी पर जा बैठी।

दूसरा लड़का बोला, "तपस्या किसे कहते हैं?"

पहला बोला, "किसी चीज़ के लिए इतनी लगन कि सारे समय उसी का ध्यान रहे, बाक़ी सब चीज़ें भूल जायें, खाना, पीना, सोना तक! जैसे ध्रुव ने भगवान् के लिए तप किया था।"

कीड़ा बड़ा ख़ुश हुआ। चलो, पंख के लिए क्या करना चाहिये यह तो मालूम हुआ। कीड़े ने तपस्या शुरू की। खाना-पीना छोड़ दिया, बस एक ही रट लग गयी, "भगवान् पंख दो, भगवान् पंख दो।"

लेकिन तपस्या करना आसान थोड़े ही है! कीड़े ने एक छोटी कोमल, रेशमी पत्ती देखी, भूख भड़क उठी। ध्यान टूट गया और वह लपका। पेट भर गया तो कीड़े को पंख की सुध आयी। अब क्या हो? तप भ्रष्ट हो

गया। कीड़ा हिम्मत न हारा, फिर से लगा तप करने। इस बार मन कड़ा करके बैठा रहा, बैठा रहा।

एक दिन एक पतली-सी आवाज़ सुन कर कीड़े ने नज़र उठायी तो देखा, मनुष्य जैसा ही एक प्राणी उसके आगे खड़ा है, ठीक आदमी जैसा परन्तु फिर भी भिन्न। और... और इसके पंख थे, सुन्दर झिलमिलाते पंख। तितली के पंख उसके सामने पानी भरते थे! उसका मुख कितना प्यारा था! कैसी मनमोहक मुस्कान थी उसकी। कीड़ा उसके सौन्दर्य से इतना मुग्ध हो गया था कि उसे कुछ सुनायी न दे रहा था। अन्त में उस प्राणी ने जगमगाते सितारे वाली छड़ी से उसे छुआ। अब कीड़ा सम्भल बैठा। उसने सिर नवाते हुए पूछा, "आदमी की भाषा में आपका नाम क्या है?"

आकृति बोली तो मानों बाँसुरी बज उठी, "मुझे परी कहता है वह। सुनो, मुझे परी रानी ने तुम्हारे पास भेजा है। तुम तपस्या कर रहे हो न? किसलिए? क्या चाहिये तुम्हें?"

कीड़ा गद्‌गद वाणी में बोला, "परी जी, मुझे पंख चाहियें, आपके जैसे न हों तो कम-से-कम तितली जैसे पंख देने की कृपा करें।"

परी गम्भीर होकर बोली, "मुझे खेद है तुम्हें तितली जैसे रंग-बिरंगे पंख न दे सकूँगी। तुम्हारा तप एक कोमल पत्ती के कारण भंग हो गया था इसलिए तुम्हें मामूली-सी पाँखें देती हूँ।" कहते-कहते परी ने अपनी छड़ी घुमायी और कीड़े ने एक मीठा दर्द महसूस किया।

अचानक पीठ पर एक नयी हलचल महसूस हुई। कीड़े ने गर्दन घुमा कर पीछे देखा। ओह! छोटे-छोटे पंख फड़फड़ा रहे थे। कीड़े ने पंख जल्दी-जल्दी फड़फड़ाये और वह हवा में तैरने लगा!! कितना सुखद था इस तरह हलका होना। वह ख़ूब उड़ा, ऊपर, नीचे, नाक की सीध में, पत्तों के बीच!

कुछ दिन उड़ते रहने के बाद कीड़ा फिर से असन्तोष से भर उठा। सोचने लगा, "क्या हुआ पंख मिले तो? हूँ तो निकम्मा... और सुन्दर ख़ाक लगता हूँ! पंख मिले भी तो ख़ास सुन्दर न मिले; मुझसे सूर्य-चन्द्र भले, सारी सृष्टि को प्रकाश देते हैं। सूर्य से अच्छा चन्द्र है, कितना स्निग्ध, कितना कोमल! सूर्य का प्रकाश प्रचण्ड हो उठे तो प्राणिमात्र को परेशान कर देता है, लेकिन चन्द्र... उसकी तो बात ही निराली है!"

अचानक उसके मुँह से निकला, "क्यों न मैं भी, छोटा ही सही, चन्द्र ही न

बन जाऊँ?" फिर अपने क्षुद्र शरीर को देख कर उसने निराशा से सिर झुका लिया। कुछ देर चिन्ता में डूबा रहा। शाम हो चली थी, धीरे-धीरे तारे टिमटिमाने लगे। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कीड़े ने ऊपर की ओर ताका।

"आहा! मिल गया, मिल गया!" वह बुदबुदाया, "मैं धरती का तारा बनूँगा।"

रात के अँधेरे में किसी की हँसी सुनायी दी, "यह मुँह और मसूर की दाल।" कीड़े ने इधर-उधर देखा, एक छोटा-सा झींगुर खड़ा हँस रहा था। कीड़े को अपनी ओर देखते हुए देखा तो हँसी के मारे लोट-पोट हो गया और लगा ज़ोर-ज़ोर से झीं... ई... ई... झीं... ई... ई... करने। कीड़ा कुछ बोले बिना सोचने लगा, "वह बेचारा क्या जाने मैं क्या था और क्या बन गया! श्रद्धा और तपस्या से सब कुछ हो सकता है, लेकिन जो मानेगा नहीं उसे बताने से क्या लाभ!"

कीड़ा चुप रहा और झींगुर अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

अब कीड़ा प्रायः अचल पड़ा रहता था। कोई मनुष्य देखता तो उसे मरा हुआ मान लेता। कितनी ही रातें ढलीं, कितने दिन चमके, पर कीड़े पर किसी परी या देवता ने दया न दिखलायी। हताश कीड़ा मन-ही-मन सोचता, "क्या पता, झींगुर ठीक ही कहता हो!"

तभी उसे नन्हीं परी का मुख दिखायी देता और कीड़े का हृदय उत्साह से भर उठता, वह दूने जोश से तपस्या में लीन हो जाता।

दिन बीते, कीड़े की हिम्मत अब जवाब दे रही थी। अचानक एक दिन सूर्योदय के समय देखता क्या है कि सूर्य के केन्द्र से कोई बाहर निकलता प्रतीत हो रहा है जिसके तेज के आगे सूर्य फीका दीखने लगा। उनका मुख सूरजमुखी-सा खिला हुआ था, आँखें हीरों-सी चमकती थीं। उनके पद-कमल जहाँ पड़ते वहाँ से धरती की स्तुति सुनायी देती। कीड़े ने सुना :

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

भगवान् आकर कीड़े के सामने रुक गये, मेघ-गम्भीर वाणी में पूछा,

"तू किसलिए तपस्या कर रहा है? मैं तेरी निष्ठा से प्रसन्न हूँ, वर माँग ले!"

कीड़े ने अपना नन्हा सिर नवाया और बोला, "भगवन्, आप सब जानते हुए भी पूछ रहे हैं तो सुनिये। आकाश में सूरज है, चाँद है, तारे हैं जो सारे समय प्रकाश देते रहते हैं। क्या मुझे धरती पर थोड़ा-सा प्रकाश फैलाने का अवसर मिल सकेगा? मैं पृथ्वी का तारा बन कर टिमटिमाना चाहता हूँ!"

भगवान् मुस्कुराये, चारों दिशाएँ संगीत से भर गयीं। मुरली, मृदंग, छोटी-छोटी घण्टियाँ, जल-तरंग, सभी एक साथ बज उठे। इस संगीत को सुन धरती भी मुस्कुरायी और अनगिनत कलियाँ खिल उठीं।

भगवान् बोले, "तथास्तु।"

कीड़े ने आनन्द-विभोर होकर डगमगाते पगों से भगवान् की चरणरज ली और उसे छूते ही उसका सारा शरीर पुलक से भर उठा। उसने देखा, पंखों के बीच प्रकाश की छोटी-छोटी किरणें आ-जा रही थीं। कीड़े ने द्रवित नयनों को ऊपर उठाया, लेकिन वहाँ था केवल नील गगन!

*

एक दिन एक छोटा बालक आँगन में माँ की गोद में बैठा सन्ध्या का रूप निहार रहा था। अचानक वह कूद पड़ा, चिल्लाया, "माँ, माँ, देख, एक तारा धरती पर खेलने आया है। मैं उसके साथ खेलूँगा।" वह पास खड़े मौलसिरी के वृक्ष की ओर भागा और टिमटिमाते प्रकाश को पकड़ने के लिए इधर-उधर दौड़ने लगा। कुछ देर बाद दोनों हथेलियों में बन्द प्रकाश को लेकर माँ के पास आया। हौले से एक उँगली खोलता हुआ बोला, "देख!"

माँ स्मित-मढ़े मुख से देखती रही, फिर धीरे से बोली, "हाँ, बेटा, ऐसा ही लगता है। देखना, कहीं तारा उड़ न जाये। उसे चोट न लगने पाये।"

माँ-बेटे की बातचीत सुन रहे थे बालक के पिता, भारी-भरकम प्रोफ़ेसर। जब पत्नी उनके पास आयी तो बोले, "क्या ऊट-पटाँग बातें सिखा रही हो बच्चे को, जुगनू को जुगनू ही कहो। क्यों उसे चाँद-सितारा कह कर बहका रही हो?" पत्नी सहज भाव से हँसी, बोली—क्यों तोड़ा जाये उसका विश्वास? आपने ही तो उस दिन इक़बाल का शेर सुनाया था:

छोटे से चाँद में थी ज़ुलमत (अँधेरा) भी रौशनी भी,
निकला कभी गहन से आया कभी गहन में।

'पुरोधा', सितम्बर २००७ से —वन्दना

आध्यात्मिक मनुष्य

आध्यात्मिक मनुष्य वह है जिसने आध्यात्मिकता की कोई चीज़ उपलब्ध कर ली है, भले वह विभिन्न पहलुओं में से कोई एक ही क्यों न हो ; वह जो इन पहलुओं को पाने की कोशिश करता है वही आध्यात्मिक जिज्ञासु है। बाक़ी सब कुछ—चाहे वह भव्य रूप से बौद्धिक या नैतिक हो, कलात्मक रूप से अत्यधिक सुन्दर और सामञ्जस्य हो, प्राणिक रूप से शानदार, महान् तथा बलशाली या शारीरिक रूप से पूर्ण क्यों न हो—वह सब रास्ते में अमूल्य उपलब्धियाँ अवश्य होती हैं, लेकिन अभी तक व्यक्ति ने वह अटल क़दम नहीं उठाया है कि वह मन की सीमा को लाँघ कर एक नये साम्राज्य में पदार्पण कर ले।

CWSA खण्ड २८, पृ. ४२५ **श्रीअरविन्द**

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

... सच्ची नम्रता हमारा रक्षाकवच है -- यह अहंकार के अनिवार्य विलयन के लिए सबसे निश्चित मार्ग है।

*

नम्रता और सच्चाई सबसे अच्छे रक्षाकवच हैं। उनके बिना एक-एक पग खतरनाक है, उनके साथ विजय निश्चित है।

श्रीमातृवाणी, खण्ड १४, पृ. १५९ *श्रीमाँ*

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

Auroshrine

A Project of New Building Construction

SRI AUROBINDO SOCIETY

NAGPUR BRANCH

J.N. MARG, SITABULDI FORT SOUTH, NAGPUR - 440 012

- **PEACE AREA :** Establishment of Relics of Sri Aurobindo (Relics Centre) Water Body Structure (Lotus Bud in Marble) to hold relics in the Centre of the Relics Room.
- **MEDITATION HALL :** Calm environment for Spiritual Retreats (Capacity of 100 people)
- **PHOTO GALLERY :** Photos on the life of Sri Aurobindo & The Mother
- **LIBRARY :** Well equipped Library. Ample Books of Sri Aurobindo & The Mother
- **OFFICE :** Well furnished & equipped office
- **SERVICE TREE :** In the premises, saplings germinated from the seeds of the original one in Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry over the Samadhi (Open meditation place under the Service Tree)

Sri Aurobindo Society, Nagpur welcomes Donations for "Auroshrine" Building Construction Project. Donations can also be made through direct transfer.

- Bank Transfer **(NEFT / RTGS / IMPS)**
  Bank Name : **Canara Bank, Ramdaspeth, Nagpur**
  Account No. : **1404101016479** IFSC Code : **CNRB0001404**
- Cheques / Demand Drafts - in favour of **"Sri Aurobindo Society, Nagpur"**

All doners are eligible for Tax benefits under Indian Income Tax Act under section 80G.

For more information Contact : **Dr. Prakash Mistri (Chairman) - 7066718689,**
Shri Sunil Badwe (Secretary) - 8554996880, Shri Omprakash Dhande (Treasurer) 9422805551
Email : **sasnagpur@aurosociety.org**

Date of Publication: 1st May 2022
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70

मुखपृष्ठ

मनुष्य की आत्मा हंस पक्षी के समान भौतिक तथा मनोमय चेतना के दीप्तिमान नभोमण्डल के उस पार ऊँची उड़ानें भरती है। वह यात्री एवं योद्धा के समान दैहिक पृथ्वी तथा मानसिक स्वर्ग से परे सत्य के आरोही पथ से होते हुए उस परम देव की खोज में आरोहण करती है जो उच्चतम परम की गोपनीयता से – जहाँ यह त्रिविध दिव्य तत्त्व में आसीन है और जो परमानन्द का उद्गम है – हमारी ओर नीचे झुक कर हम सब के लिए प्रतीक्षा कर रहा है।

CWSA खण्ड १५, पृष्ठ. ३७१ श्रीअरविन्द